प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

तीसरी बार : १६५७

मूल्य
दो रुपये

मुद्रक
हिंदी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली-६

प्रकाशकीय

पं० जवाहरलाल नेहरू का वैसे अधिकांश समय राजनीति में ही जाता है, लेकिन सच यह है कि उनकी रुचि वहुत व्यापक है और उन्होंने उन वहुत-सी समस्याओं का भी अध्ययन किया है, जिनका राजनीति से परोक्ष भले ही हो, सीधा संवंध नहीं है। शिक्षा, साहित्य, भाषा, विज्ञान आदि दर्जनों विषयों में उनकी गहरी दिलचस्पी है और उनका वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करके उनके वारे में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं। यात्रा के प्रति तो उनका प्रेम सर्व-विदित ही है। उनका सैलानी स्वभाव उन्हें प्रायः ऐसे स्थानों में ले गया है, जहां जाना निरापद नहीं है और कई वार तो उनका जीवन घोर संकट में पड़ गया है। यात्रा के संस्मरणों को पढ़ते समय हमें लगता है, जैसे कोई कवि वोल रहा हो।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक में नेहरूजी के कुछ ऐसे लेखों का संग्रह किया गया है, जिनका विषय राजनीति नहीं है। इसमें कई-एक तो देश-विदेश के यात्रा-संस्मरण हैं, जिनमें प्रकृति के कलापूर्ण वर्णन के साथ-साथ वहांपर वसनेवाले लोगों के स्वभाव, सामाजिक रीति-रिवाज आदि का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अन्य लेखों में उन्होंने साहित्य के भंडार की श्रीवृद्धि, भाषा की वैज्ञानिकता, समाज-हित की दृष्टि से राष्ट्रीय योजना, महिलाओं की शिक्षा, विज्ञान का महत्व आदि-आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा की है। इन लेखों में हमें लेखक के व्यापक व आदर्शवादी दृष्टिकोण, छोटी-से-छोटी

चीज की भी गहराई में जाने की अद्‌भुत क्षमता, कला-प्रेम और विस्तृत अध्ययन एवं अन्वेषण का पता चलता है।

इस विषय की वह पहली ही पुस्तक प्रकाशित हो रही है। हमें विश्वास है कि पाठक उसे पसंद करेंगे। पुस्तक की सामग्री के संकलन में 'मेरी कहानी', 'हिंदुस्तान की समस्याएं', 'यूनिटी ऑव इंडिया', 'कुछ समस्याएं', 'नेशनल हैरल्ड' आदि से साभार सहायता ली गई है।

तीसरा संस्करण

पुस्तक का तीसरा संस्करण पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। आशा है, इस पुस्तक की लोकप्रियता आगे और भी बढ़ेगी। इस संस्करण में नेहरूजी की दो रचनाएं और जोड़ दी गई हैं। फिर भी मूल्य यथापूर्व रक्खा गया है।

—मंत्री

विषय-सूची

राजनीति से दूर

: १ :

छुटकारा

हरिपुरा-कांग्रेस खतम हो चुकी थी। ताप्ती के किनारे पर वांसों का आश्चर्यजनक नगर सूना-सूना-सा लग रहा था। अभी दो-एक दिन पहले ही तो यहां की सड़कें जीवन और उत्साह से भरी भीड़ से खचाखच थीं। सभी खुश-खुश, वहस-मुवाहिसा करते, हँसते-खिलखिलाते चले जा रहे थे और महसूस करते थे कि वे भी भारत के भाग्य के वनाने में हाथ वंटा रहे हैं; किंतु वह लाखों की जनता एक वार ही अपने दूर-पास घरों की ओर चल दी और यह स्थिर और शांत वायुमंडल सूनेपन के वोझ से व्यथित हो उठा। धूल की आंधियां भी वंद हो गईं। यहां आने पर फ़ुरसत पा जाने का यह पहला ही मौका था और मैं ताप्ती के किनारे घूमने निकल गया। रात की वढ़ती हुई अंधियारी में मैं वहते हुए पानी की धारा तक चला गया। मुझे यह सोचकर कुछ अफसोस-सा हुआ कि यह विशाल नगर और डेरे, जो खेतों और ऊसर भूमि पर वनाये गए थे, जल्दी ही गायव हो जायंगे और फिर शायद ही इनका कोई नामोनिशान वाकी रहे ! सिर्फ उनकी यादगार ही वनी रह जायगी। किंतु फौरन ही अफसोस दूर होगया और किसी दूर जगह को जाने की वहुत दिनों की

इच्छा बलवती हो उठी, मुझपर अधिकार कर गई। यह शारीरिक थकान नहीं थी, वरन दिमाग की व्यथा थी, जो तवदीली और ताज़गी के लिए भूखी थी। राजनैतिक जीवन जी उवानेवाली चीज है और कुछ समय के लिए तो इससे मैंने छुट्टी ले ही ली थी। कुछ पुराना अभ्यास और नैतिकता मुझे जकड़े हुए थी; लेकिन दिन-ब-दिन इससे मन, व्याकुल होता जा रहा था। जव मैं प्रश्नों का उत्तर देता, या भरसक मित्रों तथा साथियों से नम्रतापूर्वक बोलने की कोशिश करता तब मेरा मन कहीं और ही रहता। सुदूर उत्तर के पहाड़ों की गहरी घाटियों और बरफ से ढकी चोटियों और चीड़ और देवदार के पेड़ों से ढके हुए कगारों और हल्के ढालों पर मेरा मन विचर रहा होता। अब मैं हर तरफ से घेरे रहनेवाले प्रश्नों और समस्याओं से घवड़ाकर,कोलाहल से दूर, शांति तथा विश्राम की एक हल्की-सी सांस के लिए वेचैन हो रहा था।

आखिर मुझे मनचाही राह मिली और मैं अपनी दवी हुई तथा वहुत दिनों की इच्छा को पूरा करने चल पड़ा। जव छूटकर भाग जाने के लिए मेरे सामने द्वार खुल गया तब मैं मंत्रि-मंडलों के वनने-विगड़ने या अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के चक्कर में पड़कर अपनेको क्यों दुःख देता ?

मैंने जल्दी से इलाहाबाद को प्रस्थान किया और वहां यह देखकर कि कुछ झगड़ा हो रहा है, मुझे वड़ा आश्चर्य हुआ। वड़ी झुंझलाहट हुई और क्रोध भी। चूंकि कुछ मूर्ख और धर्मांध साम्प्रदायिक लोग झगड़े पैदा कर रहे हैं,इसीलिए क्या मैं पहाड़ों पर जाने से रुक जाऊं ? मैंने अपने मन में तर्क किया कि कुछ अधिक तो होना नहीं, हालत सुधर ही जायगी, और फिर यहां

तो बहुत-से समझदार आदमी हैं ही। इस तरह कोलाहल से दूर जाकर छुटकारा पाने की न दवनेवाली इच्छा के काबू होकर मैंने यह तर्क किया और अपने-आपको धोखा दिया। जब मेरा काम इलाहाबाद में पड़ा हुआ था तब मैं कायर की भांति वहां से खिसक आया।

बाहर निकलकर मैं फौरन इलाहाबाद और वहां के झगड़ों को भूल गया, यहांतक कि हिंदुस्तान की समस्याएं मेरे दिमाग के किसी कोने में जाकर खो-सी गई। कुमायूं की पहाड़ियों में होकर अलमोड़े जानेवाली चक्करदार सड़क पर जैसे ही हम पहुंचे,मैं तो पहाड़ी हवा की मादकता में अपनेको भूल-सा गया। अलमोड़े से आगे हम 'खाली' तक गए और अपनी इस यात्रा के आखिरी हिस्से को मजबूत पहाड़ी खच्चरों की पीठ पर तय किया। अब मैं 'खाली' में था, जहां जाने के लिए पिछले दो वर्षों से बेचैन हो रहा था।

सूरज डूब रहा था। पहाड़ी की चोटियां उसकी रोशनी में चमक रही थीं और घाटियों में खामोशी छाई थी। मेरी आंखें नंदादेवी और उसकी पर्वत-मालाओं की सहचरी बर्फ से ढकी चोटियों को खोज रही थीं। हल्के बादलों ने उन्हें छिपा लिया था।

एक दिन जाता और दूसरा आता। मैंने जी भरकर पहाड़ी हवा का आनंद लिया और बरफ़ तथा घाटियों के रंग-बिरंगे दृश्यों को तबीयत भरकर निहारा। कितने सुंदर और शांत थे वे! संसार की बुराइयां इनसे कितनी दूर और कितनी निस्सार थीं! पश्चिम और दक्षिण-पूर्व की ओर हमसे दो-तीन हजार फुट नीचे गहरी घाटियां दूर के प्रदेशों में जाकर मुड़ गई थीं।

उत्तर की ओर नंदादेवी और सफेद पोशाक में उसकी सहेलियां सिर ऊंचा किये थीं। पहाड़ों के करारे बड़े डरावने थे और लगभग सीधे कटे हुए-से कभी-कभी नीचे बड़ी गहराई तक चले जाते थे; परंतु उपत्यकाओं के आकार तरुण पयोधरों की तरह बहुधा गोल और कोमल थे। कहीं-कहीं वे छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गए थे, जिनपर हरे-हरे लहलहाते खेत इंसान की मेहनत को जाहिर कर रहे थे।

सवेरा होते ही मैं कपड़े उतारकर खुले में लेट जाता और पहाड़ों का सुकुमार सूर्य मुझे अपने हल्के आलिंगन में कस लेता। ठंडी हवा से कभी-कभी मैं तनिक कांप उठता; परंतु फिर सूर्य की किरणें मेरी रक्षा के लिए आकर मुझे गरम और स्वस्थ कर देतीं।

कभी-कभी मैं चीड़ के पेड़ों के नीचे लेट जाता। सन-सन करती हुई हवा मेरे कानों में अनेक विचित्र बातें मंद-मंद कह जाती। मेरी संज्ञा उसकी तंद्रिल थपकियों से सो-सी जाती और मस्तिष्क शीतल हो जाता। मुझे अरक्षित देखकर और मुझपर आघात के लिए ठीक अवसर पाकर वह हवा चतुराई से नीचे संसार के मनुष्यों के शठता-भरे ढंगों, सतत कलहों, उन्मादों तथा घृणाओं, धर्म के नाम पर हठधर्मी, राजनीति में व्यभिचार और आदर्शों से पतन की ओर संकेत करती। क्या इन सबके पास फिर लौटकर जाना उचित है? क्या इनसे संबंध स्थापित करना अपने जीवन के उद्योगों को व्यर्थ कर देना नहीं है? 'यहां शांति है, नीरवता है, स्वस्थता है और संगी-साथियों के रूप में यहां बर्फ है, पर्वत हैं, तरह-तरह के फूलों और घने पेड़ों से लदे हुए पर्वतों के बाजू हैं और है पक्षियों का कलरव गान!' यही वायु

ने धीरे-से मेरे कानों में कहा और वासंती दिन की मनमोहक रमणीयता में मैंने उसे अपनी बात कहने से रोका नहीं।

पहाड़ी प्रदेश में अभी वसंत का प्रभात ही था, यद्यपि नीचे मैदान की ओर ग्रीष्म झांकने लगा था। पहाड़ियों पर गुलाब की तरह बड़े-बड़े सुंदर रोडोडेनड्रन[1] पुष्पों से रंजित लाल-लाल स्थल दूर से ही दीखते थे। पेड़ फलों सेलदे हुए थे और अनगिनत पत्ते अपने नवीन, कोमल और सुंदर हरे वस्त्रों से अनेक वृक्षों की नग्नता दूर करने के लिए बस निकलना ही चाहते थे।

'खाली' से चार मील पंद्रह सौ फुट ऊंचे पर बिनसर है। हम वहां गए और एक चिरस्मरणीय दृश्य देखा। हमारे सामने तिब्बत के पहाड़ों से लेकर नैपाल के पहाड़ों तक फैला हुआ हिमालय हिम-माला का एक छः सौ मील का विस्तार था और इसके केंद्र-स्थान पर ऊंचा सिर किये नंदादेवी खड़ी थी। इसी विशाल विस्तार में बद्रीनाथ, केदारनाथ और इसके प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान हैं और इनके पास ही मानसरोवर और कैलास भी हैं। कितना महान दृश्य था वह! इसकी दिव्यता से मंत्र-मुग्ध-सा होकर, मैं चकित-सा इसे एकटक देख रहा था। मुझे यह सोचकर अपने उपर थोड़ा-सा गुस्सा भी आया कि अगर्चे मैं सारे हिंदुस्तान का चक्कर लगा आया और बहुत-से दूर देशों की भी यात्रा की, फिर भी अपने ही प्रांत के एक कोने में इकट्ठे इस सौंदर्य को भूला ही रहा। हिंदुस्तान के कितने लोगों ने इसे देखा या इसके बारे में कुछ सुना भी है? न जाने ऐसे कितने हजारों लोग हैं, जो दिखावटी सजे हुए पहाड़ी मुकामों पर हर साल नाच और जुए की तलाश में जाया करते हैं!

---

१. एक प्रकार का बड़ा लाल फूल।

इस तरह दिन वीतने लगे और मेरे दिमाग में संतोप की मात्रा भी वढ़ने लगी; परंतु साथ ही यह डर भी होने लगा कि मेरी यह थोड़े दिनों की छुट्टी भी अव जल्दी ही समाप्त हो जायगी। कभी-कभी पत्रों तथा समाचार-पत्रों का वड़ा-सा वंडल मेरे पास आ जाता और मैं उसे बे-मन से खोलकर देख जाता। डाकघर दस मील दूर था। इसलिए मेरी इच्छा थी कि डाक वहीं पड़ी रहने दी जाय; लेकिन एक तो पुरानी पड़ी हुई आदत वड़ी तेज थी और फिर दूर जगह के किसी प्रिय की चिट्ठी पा जाने की संभावना भी मुझसे इन सिर पड़े अनिमंत्रित अतिथियों के लिए द्वार खुलवा देती थी।

यकायक एक वड़े ज़ोर का धक्का आया। हिटलर आस्ट्रिया पर चढ़ रहा था और मुझे वियना के आनंददायक उपवनों को कुचल देने को तैयार जंगली पद-ध्वनियां सुनाई पड़ीं। क्या यह चिर-संभावित विश्व-विनाश के आगमन के सूचनार्थ नांदी-पाठ था? क्या यह महायुद्ध था? मैं 'खाली' को भूल गया और भूल गया पहाड़ों और वरफ की शिलाओं को! मेरा शरीर तन गया और दिमाग़ चंचल हो उठा। जव संसार सर्वनाश के मुख में था और वुराई की जीत हो रही थी, जिसका सामना करना और उसे रोकना मेरा फर्ज़ था, उस समय मैं यहां पर्वतों के इस दूर कोने में पड़ा-पड़ा क्या कर रहा था? लेकिन मैं कर ही क्या सकता था?

एक दूसरा धक्का और आया—इलाहावाद में साम्प्रदायिक दंगे, जिनमें कई मार डाले गए और कई के सिर फूटे! थोड़े-से आदमियों के जीने या मर जाने से अधिक कुछ नहीं विगड़ता; परंतु यह कैसा खिजानेवाला पागलपन और नीचता

है, जिसने हमारे देश-वासियों को समय-समय पर पतन के गड्ढे में ढकेला है ?

फिर तो मेरे लिए यहां 'खाली' में भी शांति नहीं थी, छुटकारा नहीं था। दिमाग को दुखी करनेवाले विचारों से मैं कैसे छुटकारा पा सकता था ? अपने हृदय की धड़कन को छोड़कर मैं कैसे भाग सकता था ? मैंने समझ लिया कि संसार के प्रमादों का सामना करना और इसके क्षोभ को सहना ही पड़ेगा, हालांकि चाहें तो कभी-कभी संसार से छुटकारे का सपना भी देख सकते हैं। क्या ऐसा सपना देखनेवालों की एक कल्पित धारणा ही नहीं है, या इसके अलावा वह कुछ और भी है ? क्या वह सपना कभी सच हो सकेगा ?

मैं थोड़े दिन 'खाली' में और ठहरा रहा; किंतु एक अस्पष्ट अशांति ने मेरे दिमाग को जकड़ रखा था। आदमी की शठता से अछूते, सुनसान और अज्ञेय उन सफ़ेद पहाड़ों को देखते-देखते मुझे फिर से शांति महसूस हुई। आदमी चाहे कुछ भी क्यों न करे, वे पहाड़ तो वहां रहेंगे ही। अगर वर्तमान जाति आत्म-हत्या कर ले, या और किसी धीमी प्रक्रिया से गायब हो जाय तो भी वसंत आकर इन पहाड़ी प्रदेशों का आलिंगन करेगा ही चीड़-वृक्षों के पत्तों में लड़खड़ाती हुई हवा भी बहा ही करेगी और पक्षियों का संगीत भी चलता ही रहेगा।

परंतु उस समय तो अच्छी या बुरी कोई भी छुटकारे की राह न थी। आगे हो तो हो। कुछ हद तक सक्रियता में ही छुटकारा था। चाहे जैसा भी हो, 'खाली' दिमाग को राहत नहीं दे सकती थी और न दिल में विस्मृति भर देने की दवा ही दे सकती थी ! सो वहां पहुंचने के ठीक सोलह दिन बाद मैंने 'खाली' से

विदाई ली। विचार में खोकर मैंने उत्तर की सफेद चोटियों को आखिरी बार बड़ी देर तक एकटक निहारा और उनके पावन रेखा-चित्र को अपने दिल पर अंकित कर लिया।

अप्रैल, १९३८

: २ :

हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ में, दिल्ली में, वसंतपंचमी को हुई थी। उस साल गरमी में हमने कुछ महीने काश्मीर में बिताये। मैंने अपने परिवार को तो श्रीनगर की घाटी में छोड़ दिया और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ्ते तक पहाड़ों में घूमता रहा तथा लद्दाख रोड तक चला गया।

संसार के उच्च प्रदेश में उन संकड़ी निर्जन घाटियों में, जो तिब्बत के मैदान की तरफ से जाती हैं, घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था। जोज़ीला घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ नीचे की ओर पहाड़ों की घनी हरियाली थी और दूसरी तरफ खाली कड़ी चट्टान। हम उस घाटी की संकड़ी तह के ऊपर चढ़ते चले गए, जिसके दोनों ओर पहाड़ हैं। एक तरफ बर्फ से ढकी हुई चोटियां चमक रही थीं और उनमें से छोटे-छोटे ग्लेशियर (हिम-सरोवर) हमसे मिलने के लिए नीचे को रेंग रहे थे। हवा ठंडी और तीखी थी, लेकिन दिन में धूप अच्छी पड़ती थी और हवा इतनी साफ थी कि अक्सर हमें चीज़ों की दूरी के बारे में भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थीं, हम उन्हें उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढ़ता गया, पेड़ों और वनस्पतियों तक ने हमारा साथ छोड़

दिया, सिर्फ नंगी चट्टान, बरफ़, पाला और कभी-कभी कुछ सुंदर फूल रह गए। फिर भी प्रकृति के इन जंगली और सुनसान निवासों में मुझे अजीव संतोष मिला। मेरे उत्साह का ठिकाना न रहा।

इस यात्रा में मुझे एक वड़ा दिल को कंपा देनेवाला अनुभव हुआ। जोजीला घाटी से आगे सफ़र करते हुए एक जगह, जो मेरे खयाल में मातायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहां से सिर्फ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि वीच में वुरी तरह वरफ से ढका हुआ एक वड़ा पहाड़ पड़ता था, जिसे पार करना था ; लेकिन उससे क्या ? आठ मील होते ही क्या हैं ! जोश खूब था और तजुरवा नदारद ! हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ग्यारह हजार पांच सौ फुट की ऊंचाई पर थे, छोड़ दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड़ पर चढ़ने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ यहां का एक गड़रिया था।

हम लोगों ने रस्सियों के सहारे कई वर्फीली नदियों को पार किया। हमारी मुश्किलें वढ़ती गईं तथा सांस लेने में भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ सामान उठानेवालों के मुंह से खून निकलने लगा, हालांकि उनपर वहुत वोझ नहीं था। इधर वर्फ पड़ने लगी और वर्फीली नदियां भयानक रूप से रपटीली हो गईं। हम लोग वुरी तरह थक गए। एक-एक कदम वढ़ने के लिए वहुत कोशिश करनी पड़ती थी; लेकिन फिर भी हम यह मूर्खता करते ही गए। हमने अपना खीमा सुवह चार वजे छोड़ा था और वारह घंटे तक लगातार चढ़ते रहने के वाद एक विशाल हिमसरोवर देखने का पुरस्कार मिला। यह दृश्य वहुत ही सुंदर था। उसके चारों ओर वरफ़ से ढकी हुई पर्वत-

चोटियां थीं, मानों देवताओं का मुकुट अथवा अर्द्धचंद्र हो; परंतु ताजा वरफ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आंखों से ओझल कर दिया। पता नहीं कि हम कितनी ऊंचाई पर थे; लेकिन मेरा ख़याल है कि हम लोग कोई पंद्रह-सोलह हजार फुट की ऊंचाई पर जरूर होंगे, क्योंकि हम अमरनाथ की गुफा से वहुत ऊंचे थे। अब हमें इस हिमसरोवर को, जो संभवत: आधा मील लंबा होगा, पार करके दूसरी तरफ नीचे गुफा को ज़ाना था। हम लोगों ने सोचा कि चढ़ाई खत्म होने से हमारी मुश्किलें भी खत्म हो गई होंगी, इसलिए वहुत थके होने पर भी हम लोगों ने हँसते हुए यात्रा की यह मंजिल भी तय करनी शुरू की। इसमें वड़ा धोखा था, क्योंकि वहां दरारें वहुत-सी थीं और ताजी गिरनेवाली वरफ खतरनाक दरारों को ढक देती थी। इस ताजी वरफ ने ही मेरा करीव-करीव खात्मा कर दिया होता, क्योंकि मैंने ज्योंही उसके ऊपर पैर रक्खा, वह नीचे को खिसक गई और मैं धम्म-से मुंह वाए एक विशाल दरार में जा गिरा। यह दरार वहुत वड़ी थी और कोई भी चीज़ उसमें विल्कुल नीचे पहुंचकर हजारों वर्ष वाद तक भूगर्भशास्त्रियों की खोज के लिए इत्मीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी; लेकिन मेरे हाथ से रस्सी नहीं छूटी और मैं दरार की वाजू को पकड़े रहा और ऊपर खींच लिया गया। इस घटना से हम लोगों के होश तो ढीले हो गए थे, फिर भी हम लोग आगे चलते ही गए; लेकिन दरारों की तादाद और उनकी चौड़ाई आगे जाकर और भी वढ़ गई। इनमें से कुछको पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे, इसलिए अंत में हम लोग थके-मांदे हताश हो लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी रह गई।

: ३ :

दो मस्जिदें

आजकल अखबारों में लाहौर की शहीदगंज मस्जिद की प्रतिदिन कुछ-न-कुछ चर्चा होती है। शहर में काफी खलबली मची हुई है। दोनों तरफ मजहबी जोश दीखता है। एक-दूसरे पर हमले होते हैं, एक दूसरे की बदनीयती की शिकायतें होती हैं और बीच में एक पंच की तरह अंग्रेज-हुकूमत अपनी ताकत दिखलाती है। मुझे न तो वाकयात ही ठीक-ठीक मालूम है कि किसने यह सिलसिला पहले छेड़ा था, या किसकी गलती थी, और न इसकी जांच करने की ही मेरी कोई इच्छा है। इस तरह के धार्मिक जोश में मुझे बहुत दिलचस्पी भी नहीं है। लेकिन दिलचस्पी हो या न हो जब वह दुर्भाग्य से पैदा हो जाय, तो उसका सामान करना ही पड़ता है। मैं सोचता था कि हम लोग इस देश में कितने पिछड़े हुए हैं कि अदना-अदना-सी बातों पर जान देने को उतारू हो जाते हैं, पर अपनी गुलामी और फाकेमस्ती सहने को तैयार रहते हैं।

इस मस्जिद से मेरा ध्यान भटककर एक दूसरी मस्जिद की तरफ जा पहुंचा। वह एक बहुत प्रसिद्ध ऐतिहासिक मस्जिद है और करीब चौदह सौ वर्ष से उसकी तरफ लाखों-करोड़ों निगाहें देखती आई हैं। वह इस्लाम से भी पुरानी है और उसने अपनी इस लंबी जिंदगी में न जाने कितनी बातें देखीं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। खामोशी से उसने यह सब देखा, और हर क्रांति और तबादले पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के

तूफानों को इस आलीशान इमारत ने बर्दाश्त किया, वारिश ने उसको धोया, हवा ने अपने बाजुओं से उसको रगड़ा, मिट्टी ने उसके बाज हिस्सों को ढका। बुजुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर से टपकती है। मालूम होता है, उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनिया-भर का तजुरवा इस डेढ़ हजार वर्ष ने भर दिया है। इतने लंबे जमाने तक प्रकृति के खेलों और तूफानों को वर्दाश्त करना कठिन था; लेकिन उससे भी अधिक कठिन था मनुष्यों की हिमाकतों और वहशतों को सहना। पर उसने यह सहा। उसके पत्थरों की खामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुए और गिरे; मजहव उठे और वैठे; वड़े-से-वड़े वादशाह, खूवसूरत-से-खूवसूरत औरतें, लायक-से-लायक आदमी चमके और फिर अपना रास्ता नापकर गायव हो गए। हर तरह की वीरता उन पत्थरों ने देखी और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। वड़े और छोटे, अच्छे और बुरे सव आये और चल वसे; लेकिन वे पत्थर अभी कायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जव वे आज भी अपनी ऊंचाई से मनुष्यों की भीड़ों को देखते होंगे—उनके वच्चों का खेल, उनके वड़ों की लड़ाई, फरेव और वेवकूफी? हजारों वर्षों में इन्होंने कितना कम सीखा! कितने दिन और लगेंगे कि इनको अक्ल और समझ आये?

समुद्र की एक पतली-सी वांह एशिया और यूरोप को वहां अलग करती है। एक चौड़ी नदी की भांति वासफोरस वहता है और दो दुनियाओं को जुदा करता है। उसके यूरोपियन किनारे की छोटी-छोटी पहाड़ियों पर वाइजेंटियम की पुरानी वस्ती थी। वहुत दिनों से वह रोमन साम्राज्य में थी, जिसकी पूर्वी सरहद ईसा की शुरू की शताब्दियों में ईराक तक थी; लेकिन

पूरब की ओर से इस साम्राज्य पर अक्सर हमले होते थे। रोम की शक्ति कुछ कम हो रही थी, और वह अपनी दूर-दूर की सरहदों की ठीक तरह रक्षा नहीं कर सकता था। कभी पश्चिम और उत्तर में जर्मन वहशी—जैसा कि रोमन लोग उन्हें कहते थे—चढ़ जाते थे और उनका हटाना मुश्किल हो जाता तो कभी पूरब में ईराक की तरफ से या अरब से एशियाई लोग हमले करते और रोमन फौजों को हरा देते थे।

रोम के सम्राट कांसटेंटाइन ने यह फैसला किया कि अपनी राजधानी पूरब की ओर ले जाय, ताकि वह पूर्वी हमलों से साम्राज्य की रक्षा कर सके। उसने वासफोरस के सुंदर तट को चुना और वाईजेंटियम की छोटी पहाड़ियों पर एक विशाल नगर की स्थापना की। ईसा की चौथी सदी खतम होनेवाली थी, जब कांसटेंटिनोपल (उर्फ कुस्तुंतुनिया) का जन्म हुआ। इस नवीन व्यवस्था से रोमन साम्राज्य पूरब में जाकर मजबूत हो गया; लेकिन अब पश्चिमी सरहद और भी दूर पड़ गई। कुछ दिन बाद रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े हो गये—एक पश्चिमी साम्राज्य और दूसरा पूर्वी साम्राज्य। कुछ वर्ष बाद पश्चिमी साम्राज्य को उसके दुश्मनों ने खत्म कर दिया; लेकिन पूर्वी साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक और कायम रहा और बाइजें-टाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सम्राट कांसटेंटाइन ने केवल राजधानी ही नहीं बदली; बल्कि उससे भी बड़ा एक परिवर्तन किया। उसने ईसाई-धर्म स्वीकार किया। उसके पहले ईसाइयों पर रोम में बहुत सख्तियां होती थीं। उनमें से जो रोम के देवताओं को नहीं पूजता था, या सम्राट् की मूर्ति का पूजन नहीं करता था, उसको मौत की

सजा मिल सकती थी। अक्सर उसे मैदान में भूखे शेरों के सामने फेंक दिया जाता था। यह रोम की जनता का एक बहुत प्रिय तमाशा था। रोम में ईसाई होना एक बहुत खतरे की बात थी। वे बागी समझे जाते थे। अब एकाएक जमीन आसमान का फर्क होगया। सम्राट स्वयं ईसाई होगया और ईसाई-धर्म सबसे अधिक आदरणीय समझा जाने लगा। अब पुराने देवताओं को पूजनेवाले बेचारे मुश्किल में पड़ गये और बाद के सम्राटों ने तो उनको बहुत सताया। केवल एक सम्राट (जूलियन) फिर ऐसे हुए जो ईसाई-धर्म को तिलांजलि देकर फिर देवताओं उपासक बन गये; परंतु अब ईसाई-धर्म बहुत जोर पकड़ चुका था, इसलिए बेचारे रोम और ग्रीस के प्राचीन देवताओं को जंगल की शरण लेनी पड़ी और वहां से भी धीरे-धीरे गायब हो गये।

इस पूर्वी रोमन साम्राज्य के केंद्र कुस्तुंतुनिया में सम्राटों की आज्ञा से बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं और बहुत जल्दी वह एक विशाल नगर होगया। उस समय यूरोप में कोई भी दूसरा शहर उसका मुकाबला नहीं कर सकता था—रोम भी बिल्कुल पिछड़ा गया था। वहां की इमारतें एक नई तर्ज की बनीं, एक नए भवन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें मेहराब, गुम्बज, बुर्जियां, खम्भे इत्यादि अपनी तर्ज के थे और जिसके अंदर खम्भों वगैरा का बारीक मोज़ाइक (पच्चीकारी) का काम होता था। यह इमारती कला बाइजेंटाइन कला के नाम से प्रसिद्ध है। छठी सदी में कुस्तुंतुनिया में एक आलीशान में एक आलीशान कैथीड्रल (बड़ा गिरजाघर) इस कला का बनाया गया जो सांक्टा सोफिया या सैंट सोफिया के नाम से मशहूर हुआ

पूर्वी रोमन साम्राज्य का यह सबसे बड़ा गिरजा था और सम्राटों की यह इच्छा थी कि वह बेमिसाल बने और अपनी शान और ऊंचे दर्जे की कला में साम्राज्य के योग्य हो। इनकी इच्छा पूरी हुई और यह गिरजा अबतक आइजेंटाइन कला की सबसे बड़ी फतह समझा जाता है। बाद में ईसाई-धर्म के दो टुकड़े हुए (हुए तो कई, लेकिन दो बड़े टुकड़ों का जिक्र है), और रोम और कुस्तुंतुनिया में धार्मिक लड़ाई हुई। वे एक-दूसरे से अलग हो गए। रोम का बिशप (बड़ा पादरी) पोप हो गया और यूरोप के पश्चिमी देशों में बड़ा माना जाने लगा। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य ने उसको नहीं माना, और वहां का ईसाई फिरका अलग हो गया। यह फिरका आर्थोडाक्स चर्च कहलाने लगा था; क्योंकि वहां की बोली ग्रीक होगई थी। यह आर्थोडाक्स चर्च रूस और उसके आसपास भी फैला था।

सेंट सोफिया का केथीड्रल ग्रीक चर्च-धर्म का केंद्र था और नौ सौ वर्ष तक ऐसा ही रहा। बीच में एक दफा रोम के पक्षपाती ईसाई (जो मुसलमानों से जेहाद लड़ने आये थे) कुस्तुंतुनिया पर टूट पड़े और उसपर उन्होंने कब्जा भी कर लिया, लेकिन वे जल्दी ही निकाल दिये गए।

आखिर में जब पूर्वी रोमन साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक चल चुका था और सेंट सोफिया की अवस्था भी लगभग नौ सौ वर्ष की हो रही थी, तब एक नया हमला हुआ, जिसने उस पुराने साम्राज्य का अंत कर दिया। पंद्रहवी सदी में ओसमानली तुर्कों ने कुस्तुंतुनिया पर फतह पाई। नतीजा यह हुआ कि वहां का जो सबसे बड़ा ईसाई केथीड्रल था, वह अब सबसे बड़ी मस्जिद हो गई। सेंट सोफिया का नाम आया

सुफीया हो गया। उसकी यह नई जिंदगी भी लंबी निकली—सैकड़ों वर्षों की एक तरह से वह आलीशान मस्जिद एक ऐसी निशानी बन गई, जिसपर दूर-दूर से निगाहें आकर टकराती थीं और बड़े मनसूबे गांठती थीं। उन्नीसवीं सदी में तुर्की साम्राज्य कमजोर हो रहा था। रूस इतना बड़ा देश होते हुए भी एक बंद देश था। उसके साम्राज्य भर में कोई ऐसा खुला बंदरगाह नहीं था, जो सर्दियों में बर्फ से खाली रहे और काम आ सके। इसलिए वह कुस्तुंतुनिया की ओर लोभ-भरी आंखों से देखता था। इससे भी अधिक आकर्षण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था। रूस के जार अपनेको पूर्वीय रोमन सम्राटों के वारिस समझते थे और उनकी पुरानी राजधानी को अपने कब्जे में लाना चाहते थे। दोनों का मजहब वही आर्थोडाक्स ग्रीक चर्च था, जिसका नामी गिरजा सेंट सोफिया था। रूस को यह असह्य था कि उसके धर्म का सबसे पुराना और प्रतिष्ठित गिरजा मस्जिद बना रहे। उसके ऊपर जो इस्लाम की निशानी हिलालया अर्द्ध-चंद्र था उसके बजाय ग्रीक क्रास होना चाहिए।

धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी में जारों का रूस कुस्तुंतुनिया की ओर बढ़ता गया। जब करीब आने लगा तब यूरोप की और शक्तियां घबराईं। इंगलैंड और फ्रांस ने रुकावटें डालीं, लड़ाई हुई; रूस कुछ रुका। लेकिन फिर वही कोशिश जारी हो गई। फिर वही राजनैतिक पेंच चलने लगे। आखिरकार सन् १९१४ की बड़ी लड़ाई आरंभ हुई और उसमें इंगलैंड, फ्रांस, और इटली में गुप्त समझौते हुए। दुनिया के सामने तो ऊंचे सिद्धांत रखे गए—आजादी के और छोटे देशों की स्वतंत्रता के,

लेकिन पर्दे के पीछे, गिद्धों की तरह लाश के इंतजार में, उसके बंटवारे के मनसूबे किये गए।

पर ये मनसूबे भी पूरे नहीं हुए। उस लाश के मिलने के पहले जारों का रूस ही खत्म हो गया। वहां क्रांति हुई और हुकूमत और समाज दोनों का उलट-फेर हो गया। बोलशेविकों ने तमाम पुराने गुप्त समझौते प्रकाशित कर दिये, यह दिखाने को कि यूरोप की बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियां कितनी धोखेबाज हैं। साथ ही इस बात की घोषणा की कि वे (बोलशेविक) साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं और किसी दूसरे देश पर अपना अधिकार नहीं जमाना चाहते। हरेक जाति को स्वतंत्र रहने का अधिकार है।

यह सफाई और नेकनीयती पश्चिम की विजयी शक्तियों को पसंद नहीं आई। उनकी राय में गुप्त समझौतों का ढिंढोरा पीटना शराफत की निशानी नहीं थी। खैर, अगर रूस की नई हुकूमत नालायक है तो कोई वजह न थी कि अपने अच्छे शिकार से हाथ धो बैठें। उन्होंने—खासकर अंग्रेजों ने—कुस्तुंतुनिया पर कब्जा किया। ४८६ वर्ष बाद इस पुराने शहर की हुकूमत इस्लामी हाथों से निकलकर फिर ईसाई हाथों में आई। सुलतान खलीफा जरूर मौजूद थे; लेकिन वह एक गुड्डे की भांति थे। जिधर मोड़ दिये जायं, उधर ही घूम जाते थे। आया सुफीया भी हस्बमामूल खड़ी थी और मस्जिद भी; लेकिन उस की वह शान कहां; जो आजाद वक्त में थी, जब स्वयं सुलतान उसमें जुमे की नमाज पढ़ने जाते थे!

सुलतान ने सर झुकाया, खलीफा ने गुलामी तसलीम की; लेकिन चंद तुर्क ऐसे थे, जिनको यह स्वीकार न था। उनमें

से एक मुस्तफा कमाल था, जिसने गुलामी से बगावत को बेहतर समझा।

इस अर्से में कुस्तुंतुनिया के एक और वारिस और हकदार पैदा हुए—ये ग्रीक लोग थे। लड़ाई के बाद ग्रीस को मुफ्त में बहुत-सी जमीन मिली और वह पुराने पूर्वी रोमन साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। अभी तक रूस रास्ते में था और तुर्की तो मौजूद ही था। अब रूस मुकाबले से हट गया और तुर्क हारे हुए परेशान पड़े थे। रास्ता साफ मालूम होता था। इंग्लैंड और फ्रांस के बड़े आदमियों को भी राजी कर लिया गया, फिर दिक्कत क्या ?

लेकिन एक बड़ी कठिनाई थी। वह कठिनाई थी मुस्तफा कमालपाशा। उसने ग्रीक-हमले का मुकाबला किया और अपने देश से ग्रीक फौजों को बुरी तरह हराकर निकाला। उसने सुलतान खलीफा को, जिसने अपने मुल्क के दुश्मनों का साथ दिया था, गद्दार कहकर निकाल दिया। उसने मुल्क से सल्तनत और खिलाफत दोनों का सिलसिला ही मिटा दिया। उसने अपने गिरे और थके हुए मुल्क को, हजार कठिनाइयों और दुश्मनों के होते हुए भी खड़ा किया और उसमें फिर से नई जान फूंक दी। उसने सबसे बड़े परिवर्तन धार्मिक और सामाजिक किये। स्त्रियों को परदे के बाहर खींचकर जाति के सबसे आगे रखा। उसने धर्म के नाम पर फैले कट्टरपन को दबा दिया और सिर नहीं उठाने दिया। उसने सबसे नई तालीम फैलाई—हजार वर्ष पुराने रिवाजों और तरीकों को खत्म किया।

पुरानी राजधानी कुस्तुंतुनिया को भी उसने इस पदवी से

उतार दिया। डेढ़ हजार वर्ष से वह दो बड़े साम्राज्यों की राजधानी रही थी। अब राजधानी एशिया में अंगोरा नगर हो गया—एक छोटा-सा शहर; लेकिन तुर्की की एक नई शक्ति का नमूना। कुस्तुंतुनिया नाम भी बदल गया—वह इस्ताम्बूल हो गया।

और आया सुफीया? उसका क्या हाल हुआ? वह चौदह सौ वर्ष की इमारत इस्ताम्बूल में खड़ी है और जिंदगी की ऊंच-नीच को देखती जाती है। नौ सौ वर्ष तक उसने ग्रीक धार्मिक गाने सुने और अनेक सुगंधियों को, जो ग्रीक पूजा में रहती हैं, सूंघा। फिर चार सौ अस्सी वर्ष तक अरबी अज़ान की आवाज उसके कानों में आई और नमाज पढ़नेवालों की कतारें उसके पत्थरों पर खड़ी हुईं।

और अब?

एक दिन, कुछ महीनों की बात है, इसी साल—१९३५ में—गाजी मुस्तफा कमालपाशा (जिनको अब खास खिताब और नाम अतातुर्क का दिया गया है) के हुक्म से आया सुफीया मस्जिद नहीं रही। बगैर किसी धूमधाम के वहां के मुस्लिम-मुल्ला वगैरा हटा दिये गये और अन्य मस्जिदों में भेज दिये गये। अब यह तय हुआ कि आया सुफीया बजाय मस्जिद के संग्रहालय हो—खासकर बाइजेंटाइन कलाओं का। बाइजेंटाइन जमाना तुर्कों के आने से पहले का ईसाई जमाना था। तुर्कों ने कुस्तुंतुनिया पर कब्जा १४५२ई० में किया था। उस समय से समझा जाता है कि बाइजेंटाइन कला खतम हो गई, इसलिए अब आया सुफीया एक प्रकार से फिर ईसाई जमाने को वापस चली गई—मुस्तफा कमाल के हुक्म से।

आजकल जोरों से खुदाई हो रही है। जहां-जहां मिट्टी जम गई थी, हटाई जा रही है और पुराने पच्चीकारी के नमूने निकल रहे हैं। वाइजेंटाइन कला के जाननेवाले अमेरिका और जर्मनी से बुलाये गए हैं और उन्हींकी निगरानी में काम हो रहा है। फाटक पर संग्रहालय की तख्ती लटकती है और दरबान बैठा है। उसको आप अपना छाता-छड़ी दीजिए, उनका टिकट लीजिए और अंदर जाकर इस प्रसिद्ध पुरानी कला के नमूने देखिए और देखते-देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिए, अपने दिमाग को हजारों वर्ष आगे-पीछे दौड़ाइए। क्या-क्या तसवीरें, क्या-क्या तमाशे, क्या-क्या जुल्म, क्या-क्या अत्याचार आपके सामने आते हैं! उन दीवारों से कहिए कि वे आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजुरबे आपको दे दें। शायद कल और परसों जो गुजर गये, उनपर गौर करने से हम आज को समझें, शायद भविष्य के परदे को भी हटाकर हम झांक सकें।

लेकिन वे पत्थर और दीवारें खामोश हैं। उन्होंने इतवार की ईसाई-पूजा बहुत देखीं और बहुत देखीं जुमे की नमाजें। अब हर दिन की नुमाइश है उनके साये में! दुनिया बदलती रही; लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे हुए चेहरे पर कुछ हल्की मुस्कराहट-सी मालूम होती है और धीमी आवाज-सी कानों में आती है—इंसान भी कितना बेवकूफ और जाहिल है कि वह हजारों वर्ष के तजुरबे से नहीं सीखता और बार-बार वही हिमाकतें करता है।

७ अगस्त, १९३५

: ४ :

राष्ट्रपति

"राष्ट्रपति जवाहरलाल की जय !"

प्रतीक्षा करती हुई भीड़ के वीच से तेजी से गुजरते हुए राष्ट्रपति ने सिर उठाकर देखा, उनके हाथ उठे और नमस्कार की मुद्रा में जुड़ गये, और उनका पीला, दृढ़ चेहरा एक मुस्कान से प्रदीप्त होगया। यह मुस्कान उनकी अपनी भावुकता की परिचायक थी, और जिन लोगों ने उसे देखा, उनपर इसका तुरंत प्रभाव पड़ा, और उन्होंने भी प्रसन्न मुख होकर जय-ध्वनि की।

मुस्कान आई और गई और फिर चेहरा कठोर और उदास होगया, मानों उस भावना का, जिसे उसने उपस्थित जन-समूह में जागृत किया था, उसपर प्रभाव ही न हो। प्रायः ऐसा प्रतीत हुआ कि उस मुस्कान और उसके साथ की मुद्रा में विशेष वास्तविकता नहीं है; यह सव उस जन-समूह की सदिच्छा प्राप्त करने का एक वनावटी ढंग मात्र था, जिसने कि उसे हृदय में विठा रक्खा था। क्या यह अनुमान ठीक था ?

जवाहरलाल को फिर से ध्यान से देखिए। एक लंवा जुलूस है और दसियों हज़ार आदमी उनकी मोटर गाड़ी को घेरे हुए हैं और वे-सुध-से उनकी जयध्वनि कर रहे हैं। वह अपनी मोटर की गद्दी पर, अपनेको खूब संभालते हुए सीधे तनकर खड़े हो जाते हैं; देखने में लंवे लगते हैं और एक देवता की भांति शांत, और उस अपार जन-समूह से अविचलित है। अचानक फिर वही मुस्कान, या एक उन्मुक्त हँसी दीखती है, तनाव टूटता है और

भीड़ भी उन्हींके साथ हँस पड़ती है—विना यह जाने हुए कि वह किस वात पर हँस रही है। अव वह देवता-स्वरूप नहीं रह जाते, वल्कि इंसान वन जाते हैं, और जिन हज़ारों व्यक्तियों के वीच वह घिरे हुए हैं उनसे एक अपनापा और संगी का रिश्ता कायम करते हैं, और जन-समूह गदगद हो जाता है और मैत्री-भाव से उन्हें अपने हृदय में स्थान देता है। लेकिन मुस्कान लुप्त हो गई है और फिर वही पीला और दृढ़ चेहरा दिखाई पड़ रहा है।

क्या यह सव-कुछ स्वाभाविक है, या एक सार्वजनिक नेता का स्वांगमात्र है? शायद दोनों ही वातें हैं और लंवे अभ्यास ने स्वभाव का रूप ग्रहण कर लिया है। सवसे प्रभावशाली मुद्रा वह है जिसमें मुद्रा का आभास न मिले, और जवाहरलाल ने विना रंग और वुकनी लगाये हुए अभिनय करने की कला खूव सीख ली है। लापरवाही और वेलोसी के दिखावे के साथ वह सार्वजनिक नाट्य मंच पर वड़ा कुशल और कला-पूर्ण अभिनय करते हैं। यह सव उन्हें और उनके देश को कहां ले जायगा? इस अन्यमनस्कता के दिखावे की तह में आखिर उनका उद्देश्य क्या है? इस छद्म मुद्रा के पीछे उनकी क्या इच्छाएं, कैसी शक्तिलालसा और क्या अतृप्त आकांक्षाएं हैं?

हर हालत में यह प्रश्न मनोरंजक है, क्योंकि जवाहरलाल का व्यक्तित्व ऐसा है कि वह वरवस अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। लेकिन हमारे लिए इन प्रश्नों का गहरा महत्व भी है, क्योंकि जवाहरलाल का वर्तमान हिंदुस्तान और संभवतः आनेवाले हिंदुस्तान से एक अटूट नाता है और उनमें यह शक्ति है कि वह हिंदुस्तान का वहुत भला भी कर सकते हैं और उतना

ही बुरा भी। इसलिए इन प्रश्नों के उत्तर हमें ढूढ़ने हैं।

करीव दो साल से वह कांग्रेस के सभापति हैं और कुछ लोगों का खयाल है कि वह कांग्रेस की कार्यकारिणी-समिति के पिछ-लगुए मात्र हैं और दूसरों के रोक-दवाव में चलने वाले हैं। फिर भी वह अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और जनता के सभी तरह के लोगों पर अपना प्रभाव वरावर दृढ़तापूर्वक वढ़ाते ही जा रहे हैं। वह किसान और कामगर, व्यापारी और फेरीवाले, ब्राह्मण और अछूत, मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई, यहूदी, इन सवतक पहुंचते हैं, जोकि भारतीय जीवन की विविधता के अंग हैं। जिस भाषा में वह इन सवसे वोलते हैं वह औरों की भाषा से कुछ अलग है, और वह सदा इन सवको अपने पक्ष में लाने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। इस अवस्था में भी वह वड़ी स्फूर्ति के साथ हिंदुस्तान-जैसे विशाल देश में सर्वत्र पहुंचते हैं और सभी जगह अद्भुत लोकप्रियता से उनका स्वागत हुआ है। उत्तर से लेकर कन्याकुमारी तक, एक विजयी सीज़र की भांति उन्होंने यात्रा की है, और जहां-जहां वह गये हैं, उन्होंने अपने यश की कथाएं छोड़ी हैं। क्या यह सव केवल उनका शौक और दिल-वहलाव है, या इसमें कोई गहरी चाल है, या वह केवल किसी ऐसी शक्ति का खेल है जिसे वह आप नहीं समझ पाते हैं? अथवा क्या यह उनकी शक्ति-लालसा है, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में किया है और जोकि उन्हें एक जनसमूह से दूसरे जनसमूह की ओर प्रेरित करती है और उनसे अपने आप चुपके से कहलाती है कि "मैंने इन जनधाराओं को अपने हाथों में समेटकर अपनी इच्छा-शक्ति को नक्षत्रों द्वारा आकाश के आर-पार अंकित किया है?"

अगर उनकी धुन बदल जाय तो क्या हो ? जवाहरलाल-जैसे लोगों पर—उनमें बड़े और अच्छे कामों को करने की चाहे जैसी शक्ति हो—जनसत्तात्मक व्यवस्था में भरोसा नहीं किया जा सकता। वह अपनेको जनतावादी और सामाजवादी कहते हैं, और इसमें संदेह नहीं कि सच्चे उत्साह से वह ऐसा कहते हैं, फिर भी हरएक मनोवैज्ञानिक जानता है कि मस्तिष्क अंत में हृदय का गुलाम होता है और तर्क को तो सदा घुमाकर मनुष्य की अदम्य प्रेरणाओं और इच्छाओं के अनुकूल बनाया जा सकता है। तनिक-सी उमेठ काफी है और जवाहरलाल एक तानाशाह बन सकते हैं और धीमी गति से चलनेवाली जन-सत्ता के आडंबरों को ठुकरा सकते हैं। जनतावाद और समाज-वाद की भाषा और नारों को वह भले ही अपनाये रहें, लेकिन हम सभी जानते हैं कि इसी प्रकार की भाषा पर फ़ासिस्टवाद भी पला और पुष्ट हुआ है, और बाद में उसने इसे व्यर्थ के कचरे की भांति अलग फेंक दिया है।

विश्वास और स्वभाव से जवाहरलाल निश्चय ही फासिस्ट नहीं हैं, उनमें ऊंचे घरानेवालों की सहज बुद्धि इतनी पर्याप्त है कि फासिस्टवाद के भोंडेपन और गंवारूपन को वह सहन न करेंगे। उनकी मुखाकृति और स्वर बताते हैं कि "सार्वजनिक स्थानों में घरेलू मुखाकृतियां जितनी आकर्षक और सुंदर दिखती हैं, सार्व-जनिक मुखाकृतियां घरों के भीतर उतनी सुंदर और अच्छी नहीं लगतीं।"

फासिस्ट मुखाकृति एक बनावटी मुखाकृति है और वह घर-बाहर कहीं भी अच्छी नहीं लगती। जवाहरलाल के चेहरे और स्वर में निश्चय ही घरेलूपन है। इस बात में कोई धोखा नहीं

हो सकता कि जन-समूह में और सार्वजनिक सभाओं में भी उनके बोलने का ढंग एक आत्मीयता लिये हुए होता है। ऐसा जान पड़ता है कि वह अलग-अलग व्यक्तियों से निजी और घरेलू ढंग से बातें कर रहे हों। उनकी बातों को सुनकर और उनके संवेदनशील चेहरे को देखकर मन में कौतूहल होता है यह जानने का कि इन सबके पीछे कौन-से विचार और इच्छाएं हैं जो काम कर रही हैं, कैसी जटिल और दबी हुई मनोवृत्तियां, कैसे दमन किये हुए और शक्ति में परिवर्तित आवेग, क्या आकांक्षाएं हैं, जिन्हें कि वह अपने से भी स्वीकार करने का साहस नहीं कर सकते।

सार्वजनिक भाषण देते समय विचारों का क्रम उन्हें बांधे हुए रहता है, लेकिन दूसरे अवसरों पर उनकी आकृति उनका भेद खोल देती है; क्योंकि उनका मन भटककर नए क्षेत्रों, नई कल्पनाओं में पहुंच जाता है और एक क्षण के लिए अपने साथ के व्यक्ति को भूलकर अपने मस्तिष्क द्वारा कल्पित पात्रों से मानों चुपके-चुपके बातें करने लगते हैं। क्या वह उन मानवी संपर्कों के विषय में सोचते हैं जिन्हें कि अपनी जीवनयात्रा में—जोकि कठिन और तूफानी रही है—उन्होंने खो दिया है, लेकिन जिनकी वह कामना करते हैं? या वह एक स्वनिर्मित भविष्य और उसके संघर्ष तथा उसमें प्राप्त विजय का स्वप्न देखते हैं? इतना तो उन्हें जानना चाहिए कि जो रास्ता उन्होंने चुना है, उसमें विश्राम नहीं है, किनारे बैठकर दम लेने का अवसर नहीं है और विजय-प्राप्ति भी और अधिक भार डाल देती है; जैसाकि लारेंस ने अरबवालों से कहा था—अर्थात् जीवन के उद्देश्य की सिद्धि।

जवाहरलाल फासिस्ट नहीं वन सकते। फिर भी वह सभी संयोग उपस्थित हैं जिनसे तानाशाह बना करते हैं—महान् लोकप्रियता, एक सुनिश्चित उद्देश्य के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति, स्फूर्ति, गर्व, संगठनशक्ति, योग्यता, कड़ाई; और जनता के प्रति उनका चाहे जितना प्रेम हो, उनमें दूसरों के प्रति एक असहिष्णुता है और कमजोरों और अयोग्यों के प्रति घृणा का एक भाव है। उनके क्रोध के आवेगों से लोग भली-भांति परिचित हैं; वह उसपर कावू भले ही पालें, उनके होठों की फड़क उनका भेद खोल देती है। काम को पूरा कराने की, जो कुछ नापसंद हो उसे मिटाकर नया निर्माण करने की उनकी प्रगल्भ इच्छा अधिक समय तक जनतावाद के धीमी गति से चलनेवाले व्यापारों से मेल नहीं खा सकती। वाहरी रूप-रेखा को कायम रखते हुए वह अवश्य अपनी इच्छाशक्ति से उसे झुकाना चाहेंगे। साधारण वातावरण में वह एक सुयोग्य और सफल कार्य-संचालक होने की क्षमता रखते हैं, लेकिन इस क्रांति के युग में तानाशाही आगे खड़ी रहती है और क्या यह संभव नहीं कि जवाहरलाल अपनेको एक तानाशाह समझने लग जायं?

यह बात जवाहरलाल के लिए और हिंदुस्तान के लिए भयावह होगी, क्योंकि तानाशाही के जरिये हिंदुस्तान स्वतंत्रता नहीं प्राप्त कर सकता। एक सुयोग्य और उदार तानाशाही के अधीन वह चाहे थोड़ा-वहुत पनप ले, लेकिन वास्तव में वह दवा रहेगा और उसके निवासियों को गुलामी से उद्धार पाने में विलंव हो जायगा।

एक साथ दो वरस तक जवाहरलाल कांग्रेस के राष्ट्रपति रहे हैं और कई प्रकार से उन्होंने अपनेको कांग्रेस के लिए इतना

ज़रूरी वना लिया है कि वहुत-से लोगों का सुझाव है कि यह तीसरी वार फिर राष्ट्रपति चुने जायं। लेकिन हिंदुस्तान और खुद जवाहरलाल के हक में इससे वड़ी असेवा न होगी। उन्हें तीसरी वार चुनकर हम यह दिखावेंगे कि व्यक्ति-विशेष को हम कांग्रेस से वड़ा मानते हैं और इस प्रकार हम जनता के विचारों को सीजरशाही के पथ में प्रवृत्त करेंगे। स्वयं जवाहर-लाल में हम गलत प्रवृत्तियों को उभारेंगे और उनकी अहंमन्यता और गर्व को वढ़ावेंगे। उन्हें विश्वास हो जायगा कि एक मात्र वही इस भार को संभाल सकते हैं या हिंदुस्तान की समस्याओं को सुलझा सकते हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि पदों के प्रति जाहिर में अपनी वेरुखी दिखाने के वावजूद पिछले सत्रह वर्षों से वह कांग्रेस में एक-न-एक महत्वपूर्ण पद थामे रहे हैं। वह सोचने लगेंगे कि उनके विना लोगों का काम न चलेगा और किसीको भी यह सोचने देना, चाहे वह जितना वड़ा व्यक्ति हो, ठीक नहीं। उनके लगातार तीसरी वार कांग्रेस का राष्ट्रपति वनने में हिंदुस्तान का हित नहीं है।

इस तरह के विचार के लिए एक व्यक्तिगत कारण भी हो सकता है। यद्यपि वह वहादुरी से काम में लगे हैं फिर भी यह स्पष्ट है कि जवाहरलाल थक गये हैं और वासी पड़ गये हैं। और अगर वह राष्ट्रपति वने रहे तो और भी ढल जायंगे। उन्हें दम मारने का अवसर यों भी नहीं मिल सकता, क्योंकि शेर की सवारी करनेवाले को काण्ठी छोड़ने का मौका कहां मिलता है। फिर भी हम उन्हें गर्व से, वहकने से, और वहुत भार तथा जिम्मेदारी में पड़कर मानसिक शक्ति-क्षय से रोक सकते हैं। भविष्य में उनसे अच्छे कामों की आशा रखने का हमें हक है।

हमें कोई काम ऐसा न करना चाहिए जिससे इस आशा पर संकट आवे। न हमें उनको ही अति प्रशंसा द्वारा बिगाड़ना चाहिए। उनमें जो भी अहंमन्यता है बहुत है। उसे रोकना चाहिए। हमें सीजरों की आवश्यकता नहीं है।

: ५ :

वारिश में हवाई सफर

यों हिंदुस्तान में मैं हवाई जहाज में काफी उड़ा हूं—उत्तर में भी और दक्षिण में भी—लेकिन वारिश में उड़ने का यह पहला ही तजुरबा था। एक नया ही दृश्य देखने में आया। मामूली तौर से देहात खुश्क और झुलसे हुए-से दिखाई देते हैं और जमीन को देखते-देखते आंखें थक जाती हैं; लेकिन वारिश में ऐसा नहीं होता। हम सब जानते हैं कि तपती जमीन पर मानसून आनंददायी मेंह बरसाता है और पानी पड़ जाने पर सूखी जमीन में से कैसी बढ़िया महक उठती है। मेंह के जादू का हाथ लगा कि जमीन पर चारों तरफ हरियाली-ही-हरियाली फैल जाती है। ऊंचाई से देखने पर यह तब्दीली और ज्यादा साफ दिखाई देती थी। हरेक चीज हरी-हरी—हालांकि उस हरियाली में और भी वहुत-से रंग थे—और अक्सर पानी खेतों में भरा खड़ा दिखाई देता था। पेड़ भी खड़े दीखते थे, साफ और शीतल। वहुत-से छोटे-छोटे गांवों की, जो धरती पर धब्बे-जैसे दिखाई देते थे, भद्दी शकल वहुत-कुछ ढक जाती थी। आंखें वार-वार इस दृश्य पर रुकती थीं, इधर-उधर घूमती थीं और थकती नहीं थीं। हिंदुस्तान एक हरा-भरा और सुंदर देश दिखाई पड़ता

था और मामूली होता था कि वह सौंदर्य और भूमि-संपत्ति के खयाल से वड़ा धनी है।

हम ज्यादा ऊंचे नहीं उड़ते थे, आमतौर से कोई पांच छः-सौ फुट की ऊंचाई पर रहते थे। धरती तेज़ी से हमारे सामने से दौड़कर निकल जाती थी। हमसे ऊपर वादल थे। वादलों के वीच अंधेरे में उड़ने से वचने के लिए हमें वादलों से नीचे हटना था और चूंकि हम निचाई पर उड़ रहे थे, इसलिए जमीन की चीजें हमें कुछ ज्यादा साफ दिखाई देती थीं। हमने देखा, मर्द और औरतें खेतों में काम कर रहे थे। ढोर मैदान में मनमौजी ढंग से घूम रहे थे। उतनी ऊंचाई से धरती पर हम यह सव देख सकते थे और ऐसा लगता था मानों सव पास ही हो। कभी-कभी पहाड़ियां हमारे नज़दीक तक आ जाती थीं और हम विल्कुल उनके ऊपर होकर आगे वढ़ जाते थे। फिर वे पीछे छूट जाती थीं। कभी-कभी हमारे ऊपर पानी वरसने लगता था और शीशे की खिड़कियों से टकराता था। मेंह की हम ज्यादा परवा नहीं करते थे और न असल में हवा के झोंकों की ही हमें फिकर थी, जो हमें उछाल देते थे। लेकिन जिस निचाई पर हम उड़ रहे थे, उसपर भी जव वादल और कुहरा हमें ढंकने लगा तो हमारा जहाज चलानेवाला कुछ परेशान हो उठा। वमरोली पहुंचे तव खूव जोर से पानी पड़ रहा था और कुहरे ने हवाई अड्डे को ऐसा ढक लिया था कि उसे पहचानना भी मुश्किल था।

जमशेदपुर से वहुत तड़के चलकर दोपहर तक लखनऊ पहुंचने की इच्छा थी; लेकिन विजली और तूफान की खवरें ज्यादा हिम्मत वढ़ानेवाली नहीं थीं और हमारे होशियार चालक का भी खतरा उठाने का मन नहीं था। जवतक अच्छे

मौसम की खबरें न आयें, हमने चलना स्थगित कर दिया और नतीजा यह हुआ कि दोपहर होने से कुछ पहले हम चल सके। हमारा जहाज तेजी से उड़ने लगा। हवा पीछे की थी और वह हमें धक्का देकर आगे बढ़ा रही थी। नगर-गांव आते और पीछे छूट जाते थे। सोन और गंगा छूट गईं और बनारस भी बहुत पीछे रह गया। अबतक हम अच्छी तरह से उड़ते रहे। हां, कभी-कभी झटके लगते थे। लेकिन ज्योंही हम इलाहाबाद के पास पहुंचे, काले और डरावने बादल हमारे नजदीक आते गये और साफ दिखाई देने लगा कि तूफ़ान आनेवाला है। इन्हीं बादलों में होकर हमारे दाएं से एक शाही जहाज निकला और शान से उड़ता हुआ आगे बढ़ गया। वह जहाज़ काफ़ी बड़ा था और तूफ़ान में होकर आगे बढ़ सकता था; लेकिन हमारा छोटा-सा जहाज तो थपेड़े खाने लगा।

हमारे चालक ने तय किया कि उसे सावधानी रखनी चाहिए और जहाज को बनारस लौटा लाया। वहां हम फौजी हवाई अड्डे पर उतरे। कुछ देर ठहरे, तबतक जहाज़ में पेट्रोल भर लिया गया। हमने फिर जोखिम लेने का विचार किया; लेकिन वहां जहाज़ के दौड़ने के लिए काफी रास्ता ही नहीं था और हमारे जहाज़ में बोझ भी ज़्यादा था, इसलिए बनारस में मैंने अपना असबाब छोड़ा और उपाध्याय को भी, जो मेरे साथ ही सफर कर रहे थे, विदाई दी। यों हल्के होकर हम आसानी से उड़े और इलाहाबाद की तरफ चले। जब हम इलाहाबाद के पास पहुंचे तो नीचे बादलों ने हमें ढंक लिया और मेंह पड़ने की वजह से जो कुछ दीख पड़ता था, वह और भी कम दीख पड़ने लगा। हमने गंगा को पार किया और मेरी आंखों ने आनंद-भवन,

स्वराज्य-भवन और वैसी ही और बहुत-सी इमारतों का अंदाज़ लगाया। अल्फ्रेड पार्क भी ऊपर से बेहद खूबसूरत मालूम होता था, शायद बारिश की वजह से। हम सीधे हाईकोर्ट पर होकर गुज़रे और निचाई पर जहाज़ के उड़ने के कारण कचहरी के लोगों की भीड़-की-भीड़ बरांडे में खड़ी मुझे दिखाई दी। लोग इस छोटे-से जहाज़ को निचाई पर उड़ते हुए देख रहे थे।

ठीक आधा घंटे में बनारस से बमरौली पहुंच गये। जहाज़ से उस दिन और आगे बढ़ने की ज्यादा संभावना नहीं थी, इसलिए वहांतक हमें लानेवाले अपने चालक और छोटे-से जहाज़ से हमने विदा ली और अफसोस के साथ लखनऊ तक का सफ़र धीमी चलनेवाली रेलगाड़ी से ही तय करने का इरादा किया।

बड़े हवाई जहाज अक्सर ऊंचाई पर उड़ा करते हैं। के. एल. एम. मुझे समुद्र की सतह से अठारह हजार फुट ऊंचा ले गया और बर्फ से ढके आल्प्स पर होकर गुज़रा। फिलस्तीन में भी हम मृत-सागर पर इतनी ऊंचाई पर उड़े कि कुहरा हमारी खिड़की के शीशों पर जमने लगा। एक बार इंपीरियल कंपनी के जहाज़ में सिंध के रेगिस्तानों में उड़ते हुए मुझे एक अजीब तजुरबा हुआ। लंबा सफर करने का मेरा यह पहला ही मौका था। सुबह का समय था और दिन की रोशनी धीरे-धीरे जमीन पर फैलती जा रही थी। अपने बहुत नीचे मैंने बरफ का खूबसूरत मैदान देखा। अपने चारों तरफ, जहांतक मैं देख सकता था, वह मैदान-ही-मैदान दिखाई देता था, बरफ़ का चमकता हुआ एकसा ढेर। अचरज से मैंने अपनी आंखें मली और फिर उसे देखा, लेकिन बात सही थी। सिंध में बरफ़! ऐसा सोचना भी वाहियात बात थी। तो क्या वह रूई और ऊन थी, जिसके ढेर

ज़मीन पर बिखरे पड़े थे ? यह भी वैसा ही पागलों का-सा खयाल था। हम ऊंचाई पर उड़ रहे थे और हमारे ऊपर साफ़ और नीला आसमान था। हमारे नीचे भी हज़ारों फुट तक बादल नहीं थे। नीचे वही सफेद चमकता हुआ ढेर था, जो जमीन को ढके हुए दीख रहा था। जब हम कोई पांच हजार फुट की निचाई पर आये और बादलों के बीच पड़ गये तो सारा भेद खुल गया। बादलों में से हम निकले और उनके नीचे उड़ने लगे तो देखा कि अब भी हम ज़मीन से कोई दस हजार फुट की ऊंचाई पर उड़ रहे थे!

ऊंचाई पर उड़ने से आदमी का जमीन से कोई संबंध नहीं रहता। जमीन हमसे दूर मालूम पड़ती है और कुछ ही चीज़ें साफ दिखाई देती हैं। बड़ी नदी सफ़ेद लकीर-सी दीख पड़ती है और पहाड़ भी, जबतक कि वह बहुत ऊंचा न हो, नीची जमीन से नहीं पहचाना जाता। मोटर या रेल में चीज़ें दौड़ती दिखाई देती हैं और रफ्तार का अंदाज रहता है। जहाज़ में रफ्तार का ज़रा भी अंदाज नहीं रहता। लेकिन अगर जहाज नीचा उड़ता है तो ज़मीन दौड़ती हुई सपाटे से आती और पीछे छूटती दिखाई देती है।

अगस्त, १९३९

: ६ :

बंबई में मानसून

बंबई मुझे पसंद है। वहां खुली जगह है, समुद्र है और ठंडी हवाएं हैं, जो समुद्र से उठकर गर्मी को कम कर देती हैं। वहां का बंदरगाह बहुत-सी रोशनियों से जगमगाने लगता है

श्रौर बैक बे, हालांकि अब उसकी उतनी उग्रता नहीं रही है और न उसका वह शानदार घुमाव ही रह गया है, अब भी आकर्षक दिखाई पड़ती है। रात के समय रोशनियों की लंबी कतारें देखने में बड़ी सुंदर लगती हैं। नई-नई इमारतों की तरफ, जो वहां तेजी से बनती जा रही हैं, मेरा ध्यान खासतौर से नहीं जाता, फिर भी दूर से इन शुष्क इमारतों का दृश्य काफी अच्छा लगता है।

वंबई में मेरे नजदीक के दोस्त हैं। उनकी वजह से मुझे वह नगरी पसंद है और इसीलिए बंबई जाने की मुझे हमेशा चाह रहती है; लेकिन एक बरस पहले मेरा एक प्यारा दोस्त वहां गुजर गया, तब से बंबई का रस मेरे लिए कुछ कम हो गया है और मुझे वहां दुःख फैला हुआ दिखाई देता है। लेकिन वंबई को जितना मैं पसंद करता हूं, उतना ही कुछ दिन वहां रहकर उससे उकता भी जाता हूं और वहां से दूर चला जाना चाहता हूं। उत्तर की सर्दी और गर्मी का मैं आदी हूं, ठंडी हवा सह लेता हूं और तपती लू भी। इसलिए यह सर्दी-गर्मी के बीच का मौसम, जिसमें बहुत कम तब्दीली होती है, मुझे बड़ा सुस्त मालूम होता है। वह इतना मौतदिल होता है कि मेरा बदलता स्वभाव उससे मेल नहीं खा पाता।

वंबई में बहुत बार गया हूं, लेकिन कभी भी मैंने वहां मानसून आते हुए नहीं देखा। मुझसे कहा गया था और मैंने पढ़ा भी था कि मौसम में पहले-पहल मेंह का आना बंबई की एक खास घटना होती है। शान के साथ मेंह बरसता है और अपनी उदार देन से वह शहर को चकित कर देता है। हम सब जानते हैं कि मानसून के दिनों में हिंदुस्तान के बहुत-से हिस्सों में खूब पानी

पड़ता है; लेकिन लोगों ने कहा कि बंबई में कुछ और ही होता है। पानीभरे बादल जब अकस्मात पहली बार धरती को छूते हैं तो उनमें बड़ी तेजी होती है। खुश्क जमीन पर मूसलाधार पानी पड़ता है और धरती समुद्र-जैसी दीखने लगती है। तब बंबई जड़ नहीं रहती, वह गतिशील हो उठती है और उसमें परिवर्तन भी होने लगते हैं।

इसलिए मैंने मानसून के आने की राह देखी। बैठ-बैठा मैं आसमान की ओर देखा करता कि मानसून के अग्र-दूत मुझे वहां दिखाई दें। थोड़ी-सी बौछारें आईं। ओह, यह तो कुछ भी नहीं है। मुझसे कहा गया था कि मानसून तो अभी आने वाला है। ज़ोर का पानी पड़ा; लेकिन मैंने उसकी तरफ़ ध्यान नहीं दिया और किसी असाधारण घटना के घटने की राह देखता रहा। जब मैं राह देख रहा था, मुझे बहुत-से लोगों से मालूम हुआ कि मानसून आगया है और फैल भी गया है। कहां थे उसके ठाट-बाट ! कहां था उसका बनाव-ठनाव ! और कहां थी उसकी शान-बान ? कहां था बादलों और धरती के बीच का संघर्ष ? और कहां था लहलहाता और थपेड़े मारता हुआ समुद्र ? रात में चोर की तरह मानसून बंबई में आया, जैसे कि इलाहाबाद या किसी दूसरी जगह में आ सकता था। मेरा एक और भ्रम दूर हुआ।

जून, १९३९

: ७ :

चीन-यात्रा के संस्मरण

तीसरे पहर सवा तीन बजे मैं हवाई जहाज से कुनमिंग को रवाना हुआ। हिंदुस्तानियों और चीनियों की भीड़ ने मुझे हार्दिक विदाई दी। जिस जहाज से मैं सफर कर रहा था, वह यूरेशिया कंपनी का था। यह चीनी-जर्मन कारपोरेशन है। जहाज जर्मनी का बना हुआ था और उसका चालक भी जर्मन था। एयरफ्रांस जहाज से वह बहुत छोटा था, उसमें दस मुसाफिरों के लिए जगह थी। जगह की कमी की वजह से हम बड़े घिरे-से महसूस करते थे।

ज्योंही हम चीन के करीब पहुंचे, मेरे अंदर खुशी की एक लहर उठी। प्राकृतिक दृश्य भी बड़े खूबसूरत थे। पीछे पहाड़ थे और एक नदी उनमें से निकलकर चक्कर खाती हुई घाटी में बह रही थी। जंगल से लदी पहाड़ियां ऊपर छाई हुई थीं। कहीं-कहीं हरे-हरे खेत और छोटे-छोटे गांव थे। नदी करीब-करीब लाल दिखाई देती थी और पहाड़ियों के खुले हिस्से भी गहरे लाल थे। शायद इसी रंग की वजह से हैनोय की नदी 'लाल नदी' कहलाती है।

जब हम पहाड़ों के पास पहुंचे तो बहुत ऊंचाई पर उड़ने लगे और कोई चार हजार फुट पहाड़ों के ऊपर पहुंच गए। प्राकृतिक दृश्यों को ऊपर से देखने में धरती से देखने की बनिस्बत बहुत फर्क पड़ जाता है। नीचे से देखने में जो बहुत खूबसूरत दिखाई देता है; ऊपर से उतना नहीं दिखाई देता। लेकिन जो दृश्य मैंने देखा, वह बहुत सुंदर था। तरह-तरह के पहाड़ों

की जुदा-जुदा शक्लों की वजह से नीरसता नहीं आने पाती थी। एक गहरी नीली झील, जिसके चारों तरफ हरे और लाल पत्थर थे, बड़ी खूबसूरत दिखाई देती थी। उसके बाद ही दूर एक और झील दिखाई दी; लेकिन तभी जहाज का नौकर आया और सब पर्दे गिराकर हमें आगाह कर गया कि हम पर्दे न उठावें। मैं सोचता हूं कि शायद ऐसा लड़ाई के कारण सावधानी की दृष्टि से किया गया होगा। इस तरह मुसाफिरों को 'पर्दानशीन' कर दिया गया। हां, जर्मन चालक सारा दृश्य देख सकता था।

कुनमिंग आ रहा था और हमें ऐसा लगा कि जहाज उतर रहा है। फौरन ही जहाज के धरती पर उतरने से हमें हल्का-सा धक्का लगा और हम चीन देश में खड़े थे।

कुनमिंग (यूनान फू)

क्योमितांग के एक प्रतिनिधि, मि. योंग कोंता, जो कि लेजिस्लेटिव य्वॉन के सदस्य भी हैं, चुंगकिंग से मेरा स्वागत करने के लिए आये थे। कुनमिंग के मेयर भी वहां थे। मुझसे कहा गया कि एक रात मुझे शहर में बितानी होगी और चुंगकिंग दूसरे दिन जा सकूंगा। मैं एक होटल में ले जाया गया।

चीन मेरे लिए एक नया मुल्क था—कथा-कहानी, इतिहास और मौजूदा जमाने के बहादुरी के कामोंवाला अद्भुत देश! और मैं तो हर बात के लिए तैयार था। लेकिन जब मैं होटल में पहुंचा तो मुझे कुछ अचरज हुआ। जितने होटल मैंने देखे थे, उन सबसे वह एकदम निराला था। उसका दरवाजा, खूबसूरत चौक और उसका बाहरी रूप आकर्षक और खास चीनी ढंग का था। लेकिन होटल के बारे में मेरी जो कल्पना थी उससे वह जरा भी नहीं मिलता था। मैंने उसके अनुसार ही अपनेको

वनाया और निश्चय किया कि चीनी ढंग ऐसा ही होता होगा। जो कमरा मुझे दिया गया था, वह कुछ छोटा था, लेकिन साफ और आरामदेह था। गरम और ठंडे पानी का इंतजाम भी उसमें था। होटल का यह भेद वाद में खुला, जव मुझे वताया गया कि वह पहले मंदिर था, पर वाद में उसे होटल वना लिया गया। मुसाफिरों के ठहरने के कमरे पादरियों या पुजारियों के लिए रहे होंगे। ऐसा दिखाई देता था, हालांकि इसमें शक नहीं कि वाद में उन्हें फिर से वनाया गया था और उनमें सामान भी जुटा दिया गया था। फिर भी पुजारी उनमें अच्छी तरह से रहते होंगे। मेरा ध्यान हिंदुस्तान के झगड़ों की तरफ गया, जो मंदिरों और मस्जिदों को लेकर वरावर चलते रहते हैं; लेकिन चीनियों ने मंदिरों को होटल वनाने में कोई रोक-थाम नहीं की और मुझे वताया गया कि वहुत-से मंदिर स्कूल वना लिये गए हैं!

होटल का मैनेजर फ्रांसीसी था। उसने हमको वढ़िया फ्रांसीसी खाना खिलाया और पीने के लिए ईविग्रन पानी दिया। उसके पास अच्छी फ्रेंच शरावें भी थीं। वैसे लड़ाई के दिनों में चीन में आसानी से रहा जा सकता है, लेकिन कुनमिंग नमूने का चीनी शहर नहीं था। वह सरहद के करीव है,इसलिए विदेशी लोग और विदेशी माल आते रहते हैं। होटल का सारा वायु-मंडल फ्रांसीसी था। होटल के नौकर चीनी वच्चे तक फ्रेंच वोलते थे।

हिंद-चीन में और यहां मुझे अपनी वहुत दिनों की भूली हुई फ्रेंच का जंग छुड़ाना पड़ा; क्योंकि कुछ आदमियों से वात-चीत करने का कोई दूसरा जरिया ही नहीं था। हिंदुस्तानियों से फ्रेंच में वात करना मुझे अजीव मालूम होता है। फिर भी वह

उतना अजीव नहीं है, जितना हिंदुस्तानियों का आपस में अंग्रेजी में वातचीत करना।

मोटर से शहर में चक्कर लगाने और पैदल घूमने के लिए मैं निकला। पुराना शहर था, जिसकी तीन या चार लाख की आवादी थी। लेकिन लड़ाई की वजह से हाल ही में आवादी वढ़ गई थी; क्योंकि चीन से वाहर जाने के रास्ते में से कुनमिंग भी एक है। मुझे पता चला कि कुनमिंग और यूनानी फू एक ही जगहें हैं। आज शाम तक मैं सोचे वैठा था कि वे दो जुदा-जुदा शहर होंगे। यूनान फू पुराना नाम है, कुनमिंग नया और विना किसी फ़र्क के दोनों नाम इस्तैमाल किये जाते हैं।

एक चीनी दोस्त के साथ मैं शहर में घूमा और इस कोशिश में रहा कि चीन के वायुमंडल का अंदाज करूं और लड़ाई के निशान पाऊं। सिपाहियों की यहां-वहां विखरी टुकड़ियों के अलावा लड़ाई के कोई निशान न थे। कुनमिंग पर गोलावारी नहीं हुई थी। सडकों में गोल पत्थर लगे थे और वहां रोशनी ज्यादा नहीं थी। दूकानों पर रोशनी खूव थी और वे आकर्षक थीं। खाने की चीजें, कपड़े और दूसरी चीजें वहुतायत से थीं। लेकिन फिर भी शान-शौकत की चीजों की कमी थी। सड़कों पर लोगों की भीड़ थी और रिक्शे चल रहे थे। अखवार वेचने-वाले लड़के अपने-अपने अखवारों के नाम और खवरें जोर-जोर से चिल्लाकर वता रहे थे। निश्चय ही शहर का रूप विगड़ रहा था और वहां तड़क-भड़क नहीं दिखाई देती थी; लेकिन लोग खुश और वेफ़िक्र दिखाई देते थे। किताबों की वहुत-सी दुकानें थीं। फल वहुतायत से दिखाई पड़ते थे। अनार मैंने वहुत ज्यादा देखे। सड़क पर वहुत-से धुनिये अपनी-अपनी धुनकी लिये मेरे

पास से गुजरे। शायद दिन का काम खत्म करके जा रहे थे। एक जगह पर धुनिये काम कर रहे थे और एक औरत बैठी थी। एक बड़े-से चर्खे से वह सूत को दोहरा कर रही थी। छोटे-छोटे मोटे-ताजे बच्चे खुश होकर इधर-उधर खेल रहे थे और कुछ छोटे-छोटे लड़के और लड़कियां हमारे पास होकर गुजरे। उन्हें कोई फिक्र नहीं थी और वे हँस रहे थे।

आमतौर से फैले भद्देपन की वजह शायद यह थी कि सब कपड़ों के रंग एकसे थे। करीब-करीब सभी मर्द, औरतें और बच्चे एक गहरे नीले या काले रंग की कमीज या गाउन पहनते थे। चीनी पोशाक मुझे अच्छी लगती है। अगर वह अच्छी तरह से तैयार की जाय तो बड़ी खूबसूरत और शानदार लगती है और काम करने के खयाल से भी वह अच्छी है। उस पोशाक में खासकर लड़कों और लड़कियों दोनों के लिए एक कमीज और पाजामा होते हैं। कमीज, जो लम्बी होती है या छोटी, शरीर में चुस्त होती है। बड़ी लड़कियां अक्सर एक लंबी गाउन पहनती हैं, जो नीचे पैर तक पहुंचती है; लेकिन एक तरफ को घुटने तक कटी होती है। यह लंबी गाउन बड़ी खूबसूरत होती है; लेकिन काम के खयाल से ज्यादा अच्छी नहीं होती।

चीनी कुली और मजदूर सभी धूप के कारण घास या बांस की बनी टोपी लगाते हैं। हैनोय में मैंने देखा कि हरेक औरत और मर्द मजदूर टोपी की तरह एक मुड़ी टोकरी इस्तैमाल करता है। धूप से बचने की यह सस्ती, अच्छी और हल्की टोपी है। कभी-कभी उसका किनारा इतना बड़ा होता है कि मेंह में भी वह छाते की तरह काम आती है। मेरे खयाल से हमारे हिंदुस्तानी किसानों में भी इसी तरह धूप के टोप बनाने और पहनने का

शौक पैदा करना चाहिए। इससे उनको बड़ी मदद मिलेगी। मुझे यकीन है कि बांस या सरकंडे के बने धूप के टोप उड़ीसा और मलाबार में पहने भी जाते हैं।

एक भोज में मैं प्रो. तिन तुआन सेन, खानों के विशेषज्ञ मि. के. टी. ह्वांग और चीन के डाक-विभाग के डाइरेक्टर जनरल मि. सिन सुंग से मिला। उनसे बहुत दिलचस्प बातें हुईं।

चुंगकिंग का मेरे लिए जो कार्यक्रम रखा गया है, मुझे दिखा दिया गया है। वह बहुत बड़ा है; लेकिन है दिलचस्प। कल दोपहर मैं चुंगकिंग पहुंचूंगा और वहां शायद एक हफ्ते ठहरूं।

मैं इस बात को नहीं भूल पाता था कि कल सुबह मैं कलकत्ते में था। उसके बाद से बर्मा, स्याम और हिंद-चीन से गुजरा हूं और अब मैं चीन में हूं। इन जल्दी-जल्दी होनेवाले परिवर्तनों के अनुकूल होना बड़ा मुश्किल है। मौजूदा परिस्थितियों से हमारे दिमाग कितने पिछड़े हुए हैं! हम बीते दिनों की बात सोचे जाते हैं और आज की जो नियामतें हैं उनका फायदा उठाने से इंकार कर देते हैं। ऐसी दशा में दुनिया में इतनी लड़ाई और मुसीबत हो तो अचरज क्या है?

२३ अगस्त, १६३६

कुनमिंग की आबहवा बड़ी सुहावनी और ठंडी थी और हैनोय की गर्मी से वह तब्दीली बड़ी अच्छी जान पड़ी। रात को खूब सर्दी थी। उसकी वजह शायद यह थी कि पास ही एक झील थी। यह मुझे सुबह मालूम हुआ। वह झील मेरे कमरे की खिड़की के ठीक पीछे तक आती थी। हमारे होटल का नाम 'ग्रांड होटल ड्यू लैक' था।

बड़े तड़के सहन में से एक तीखी आवाज आती हुई मैंने

सुनी। वह आवाज फ्रेंच व्यवस्थापिका की थी, जो सफाई और धुलाई की देख-भाल करती हुई तेजी और गुस्से से फ्रेंच भाषा में चीनी लड़कों को डांट-फटकार रही थी। और आवाजें भी आ रही थीं, जैसे अखबार बेचनेवाले लड़कों की।

कलेवे के बाद हम झील पर घूमने गए। जवान सैनिकों की पार्टियां गाती हुई जा रही थीं। इन सैनिकों या नव-सैनिकों में से कुछ तो लड़के ही मालूम होते थे। पंद्रह वर्ष की उम्र से ज्यादा के नहीं, लेकिन विदेशी को चीनियों की उम्र का अंदाजा लगाना मुश्किल है।

दस बजे से बहुत पहले हम हवाई अड्डे पर पहुंच गए। वहांपर कोलाहल-सा मचा हुआ था। प्रांतीय सरकार के कोई सदस्य भी उसी जहाज से सफर कर रहे थे और कर्मचारियों को विदाई देनेवालों की भीड़ इकट्ठी थी। यूरेशिया कारपोरेशन के जहाज में हम सवा दस बजे रवाना हुए। जहाज भरा हुआ था और उसमें जगह कम ही थी। सब पर्दे डाल दिये गए थे। कुछ मिनट के बाद हमें बाहर देखने की इजाजत मिली। जाहिरा तौर पर वह तो हवाई अड्डा ही था और उसमें जो कुछ था वह जनता के देखने के लिए नहीं था।

उड़ने के दरमियान ही बे-तार से यह खबर हमें मिली कि केंद्रीय क्योमिंतांग के प्रधान मंत्री, डा० चू चिआ ह्वा दूसरी बहुत-सी संस्थाओं के प्रतिनिधियों के, जिनमें चुंगकिंग के मेयर भी शामिल हैं, नेता की हैसियत से हवाई अड्डे से हमारा अभिनंदन और स्वागत करते हैं।

चुंगकिंग

चुंगकिंग पहुंचने में हमें तीन घंटे से कुछ ज्यादा लगे।

रास्ते भर पहाड़-ही-पहाड़ थे और जब हम चुंगकिंग के पास पहुंचे तो पहाड़ों और चट्टानी किनारों के बीच यांग्त्सी नदी चक्कर लगाती हुई दिखाई दी। धरती की सतह जरा भी दिखाई नहीं देती थी। मुझे अचरज हुआ कि उस ऊंचे-नीचे मुल्क में हवाई अड्डा किस तरह बनाया गया होगा। इसका जवाब बड़ा दिलचस्प था और मेरे लिए तो अनोखा भी। जहाज नदी के बीचों-बीच सूखी जमीन पर उतरा। बहुत-से बड़े-बड़े लोग वहां जमा हुए थे। फौज के कुछ बड़े अफसर और डा० चू, जिन्होंने बे-तार की खबर भेजी थी, उनके प्रमुख थे। ज्योंही मैं जहाज से उतरा, 'वंदेमातरम्' की परिचित और मधुर ध्वनि ने मेरा अभिनंदन किया। अचरज से जब मैंने ऊपर देखा तो वर्दी में एक हिंदुस्तानी को पाया। वह हमारे कांग्रेस मेडीकल यूनिट के धीरेश मुखर्जी थे।

स्वागत में एक छोटा-सा भाषण हुआ और फूलों के गुलदस्ते भेंट किये गए। उसके बाद हम वर्दी में खड़ी लड़कियों और लड़कों की कतार के पास होकर गुजरे। उन्होंने एक आवाज से झंडे हिलाकर हमारा अभिवादन किया। बाद में नदी पार करने के लिए हम एक नाव पर जा बैठे।

नदी के दूसरे किनारे पर बहुत-सी सीढ़ियां हमारे सामने दिखाई दीं और मुझसे एक पालकी में (जिसे 'चो से' कहते थे) बैठने के लिए कहा गया। सोचा गया था कि उसमें मुझे ऊपर ले जाया जाय। इस तरह ऊपर ले जाये जाने के विचार पर मुझे हँसी आई और फुर्ती के साथ मैंने सीढ़ियों पर चढ़ना शुरू कर दिया; लेकिन फौरन ही मुझे मालूम हुआ कि ऊपर चढ़ना आसान काम नहीं है। कोई ३१५ बड़ी सीढ़ियां थीं।

मैं हांफने लगा और थक भी चला। औरों पर तो मैंने अपनी ताकत का रोब गालिब किया; लेकिन मैंने महसूस किया कि ऐसे हिम्मत के खेल कर सकूं, इतना जवान अब मैं नहीं रहा हूं। यहां से हमने विदेशी आफिस के मेहमान-घर जाने के लिए, जहां मेरे ठहरने का इंतजाम किया गया था, मोटर-गाड़ी ली। वहां फिर हमें कोई सौ सीढ़ियां चढ़नी पड़ीं। चुंगकिंग पहाड़ पर फैला हुआ बसा है। कुछ पहाड़ों के बीच में है, कुछ ऊपर चोटी पर और सपाट रास्ता तो बहुत ही थोड़ा है।

बहुत-से बड़े अफसर और दूसरे लोग मुझसे मिलने आये और मैंने चुंगकिंग का एक हफ्ते का कार्यक्रम, जो मेरे लिए बनाया गया था, देखा। सबसे पहले उस शाम को चार बजे एक सभा थी, जिसमें १९३ संस्थाएं मेरा स्वागत करने को थीं। इस सभा में हम गये। एक बुजुर्ग राजनेता श्री वू चिहुई ने अभिनंदन करते हुए कुछ शब्द कहे, जिनका मैंने जवाब दिया। उसके बाद सनयात सेन की तस्वीर के सामने राष्ट्रीय नारे लगाये गए और वंदना की गई। बाजे चीनी राष्ट्र-गीत बजा रहे थे। यह सारा दृश्य बड़ा प्रभावशाली था।

इसी सभा में मुझे मालूम हुआ कि जहां कहीं प्रधान सेनापति का नाम आता है, वहीं उनकी इज्जत के लिए सारे लोगों को उठकर खड़ा होना पड़ता है। इस बार-बार खड़े होने से सभा में बाधा पड़ती है। इसलिए उसे रोकने के लिए मुनासिब यह है कि उनको नेता या और किसी नाम से पुकार लिया जाया करे, नाम उनका न लिया जावे।

सभा के बाद फौरन ही मुझे भोज में पहुंच जाना था, जिसका इंतजाम बहुत-सी संस्थाओं की तरफ से किया गया था।

लेकिन तभी गुप्त रूप से खबर मिली कि बमबारी की उम्मीद की जा रही है। इसलिए खाने का मामला ही खत्म हो गया। जल्दी से हम अपने घर की तरफ लौटे। हमने देखा कि सड़क पहले ही से आदमियों से भरी हुई है और सब एक तरफ को जा रहे हैं। सरकार की ओर से खतरे का संकेत अभी नहीं दिया गया था; लेकिन खबर दे दी गई थी और मर्द-औरतें अपने बचाव के लिए सुरंगों की तरफ तेजी से जा रहे थे। चुंगकिंग को एक सहूलियत है। दुश्मनों के जहाजों के आने की खबर जल्दी ही, एक घंटे से भी पहले, मिल जाती है।

उसके बाद फौरन ही खतरे का भोंपू बजा और मुझसे कहा गया कि मैं किसी सुरंग में चला जाऊं। यह बात मैंने बहुत नापसंद की; लेकिन अपने मेजबानों से इंकार भी तो नहीं कर सकता था। हम लोग मोटर में बैठकर एक खास सुरंग में गए, जो विदेश-मंत्री के घर से मिली हुई थी। सड़कों पर बड़ा जोशीला दृश्य दिखाई दे रहा था। लोग भागकर या तेजी से चलकर सब-के-सब बमबारी से बचानेवाली जुदा-जुदा सुरंगों की ओर जा रहे थे। कुछेक के साथ छोटे-मोटे बंडल या बक्स थे। माताएं अपने बच्चों को छाती से लगाये हुए थीं और छोटे-छोटे कुटुंब साथ-साथ जा रहे थे। लारियां आदमी भर-भरकर ले जा रही थीं। किसी तरह की घबराहट वहां दिखाई नहीं देती थी। वह तो लोगों का रोजमर्रा का काम था और वे उसके आदी हो गये थे।

हम विदेश-मंत्री की सुरंग में पहुंचे। देखा कि उनके दोस्त जमा होते जा रहे थे। ज्योंही दूसरी मर्तबा खतरे का संकेत दिया गया कि हम १५×१० की एक छोटी मगर ठंडी जगह के

भीतर चले गये। उसमें लोहे के दरवाजे लगे हुए थे। हमें वताया गया कि हमारे ऊपर पच्चीस फुट मजवूत पथरी थी। यहांपर वैठ गये या खड़े रहे; क्योंकि भीड़ वढ़ती गई और कोई पचास आदमी अंदर आ गये थे। रोशनी वुझा दी गई। कभी-कभी विजली की टार्च की रोशनी की जाती थी।

वहांपर वहुत-से दिलचस्प आदमी थे। सरकारी अफसर, उनकी वीवियां, सेनापति, प्रोफेसर, अखवारनवीस सभी थे। मगर मेरा मन कहीं और न होता तो वक्त वड़ी अच्छी तरह से कट जाता। वैसे वहां गर्मी भी थी और जगह भी तंग थी। चुंगकिंग में जितनी गर्मी मैं समझता था, उससे कहीं ज्यादा निकली। सुरंग के अंदर तो थोड़ी ठंडक थी, लेकिन वहां दम-सा घुटा जाता था। जव खास सुरंगों का यह हाल था तो मुझे अचरज था उन ग्राम-सुरंगों का क्या हाल होगा, जिनमें हजारों लोगों की भीड़-की-भीड़ भरी होगी ?

वाहर से आनेवाली आवाज को मैं गौर से सुनता रहा। उससे मैं कुछ समझ न सका; लेकिन लोगों के आदी कानों ने पहचान लिया कि वम गिरने की आवाज है, यह पीछा करनेवाले चीनी जहाजों की भनभनाहट है और यह दुश्मनों के वम वरसानेवाले जहाजों का शव्द है।

हम वहां इंतजार में वैठे रहे। कभी-कभी वाहर झांक लेते थे। वाहर चांदनी फैली हुई थी। कितनी शांत! कितनी शीतल! और अष्टमी का चांद चैन से चमक रहा था। हत्याकांड और जोर की वरवादी हो रही थी। कुछ कारणों से वमवारी को रोकनेवाली तोपें नहीं चलाई जा रही थीं और सर्चलाइट में भी रोशनी नहीं थी। उस सुरंग के हमारे पड़ोसी सोचते थे

कि विरोधी जहाजों में घमासान लड़ाई चल रही है।

वक्त काटने के लिए हमने अंतरराष्ट्रीय हालत की हाल की पेचीदगी, रूस और जर्मनी की प्रस्तावित अनाक्रमण संधि व इंगलैंड, फ्रांस और जापान पर उसका असर, इन सबपर चर्चा की। इस संधि से बहुत-से चीनी खुश थे, क्योंकि इसे वे जापान के अकेला रह जाने की निशानी समझते थे।

उस सुरंग के अंधेरे में हम दो घंटे तक बैठे रहे। सब एक-दम खामोश और इकट्ठे बैठे थे। मुझे बताया गया कि हवाई हमला प्राय: तीन-चार घंटे तक चलता है। परिवर्तन के विचार से यह तजुरबा मुझे अच्छा नहीं लगा; लेकिन अपने मन में यह साफतौर से जानता था कि लगातार घंटों योंही बंद पड़े रहने की बनिस्बत मैं चंद्रमा की ताजी और ठंडी रोशनी में जाने का खतरा उठाना ज्यादा पसंद करूंगा। मुझे यह अधिक रुचिकर होगा कि आदमी से चूहा बनकर बिल में बैठ जाने की बनिस्बत लड़ाई के मोर्चे पर जाऊं या ऊपर आसमान में किसी पीछा करनेवाले जहाज में चक्कर लगाऊं।

दो घंटे बीते और खबर मिली कि जापानी जहाज लौटे जा रहे हैं। सत्ताईस जहाज आये थे, जिसमें से अठारह पहले ही हैंको की तरफ जाते देखे गये थे। बाकी नौ भी चले गये। रोशनी हुई और फौरन ही वहांपर शोर-गुल और जोश दिखाई देने लगा। वे सब लोग जो इतनी आत्मीयता से दो घंटे तक पास-पास बैठे थे, बिना किसी तकल्लुफ या दुआ-सलाम के जुदा हो गये और अपने-अपने घरों की तरफ तेजी से चले गये।

ज्यों-ज्यों आदमी अपनी छिपने की जगहों से बाहर आने लगे, सड़कें फिर भरने लगीं। जिस चाल से लोग गये थे, उससे

कहीं धीमे लौट रहे थे। लौटते हुए हमें लोगों के बहुत-से गिरोह मिले। वे कुदाली और बेलचा लिये उन जगहों की तरफ जा रहे थे, जहां पर बमबारी की वजह से नुकसान पहुंचा था। वे उसे ठीक करने जा रहे थे, दूसरे लोग अपने-अपने काम पर। चुंगकिंग में फिर मामूली तौर से कारोबार चलता दिखाई देने लगा। कुछ लोग शायद ऐसे थे, जिनका काम खत्म हो गया था और अपने मुर्दा और झुलसे शरीर से आधुनिक सभ्यता की प्रगति और महानता का प्रदर्शन कर रहे थे !

हमें अबतक ठीक मालूम नहीं कि उस हमले में क्या हुआ? जाहिरा तौर पर खास शहर तो बच गया; लेकिन उसके सरहदों पर, खासकर एक गांव पर, जो छोटा-सा औद्योगिक केंद्र था, बम-वर्षा हुई।

पिछली रात का हवाई हमला, जहांतक जापानियों का ताल्लुक था, योंही गया। मालूम होता है कि चीन के पीछा करनेवाले जहाजों ने उन्हें शहर से बाहर ही रोक दिया था और कुछ मामूली-सी लड़ाई हुई। सर्च-लाइट से कुछ जापानी जहाज पहचान लिये गए। इसलिए जापानी जहाज शहर के बाहर खेतों पर ही जल्दी-जल्दी बम डालकर चले गये। एक झोंपड़ी बरबाद हो गई और दो आदमियों के मामूली चोट आई। कहा जाता है कि पीछा करनेवाले जहाजों में से चलाई गई मशीनगनों के गोले कई एक जापानी जहाजों में आकर लगे। जापानी जहाजों का कितना नुकसान हुआ, इसका तो पता नहीं। लेकिन ऐसा खयाल किया जाता है, या उम्मीद की जाती है कि उन जहाजों में से कुछको लौटने में मजबूरन जगह-जगह उतरना पड़ा होगा।

अगले कुछ दिनों में जबतक चांदनी रात रहेगी, शायद कुछ

हवाई हमले और हों। भविष्य में चांदनी रात का ताल्लुक और-और चीजों के साथ हवाई हमलों से भी समझा जाना चाहिए।

आज सुबह मुझे पता चला कि प्रधान सेनापति ने पिछली रात के हमले में मेरी हिफाजत के बारे में अपनी चिंता प्रकट की थी। उन्होंने खबर दी कि मुझे उनकी खास सुरंग में भेज दिया जाय, लेकिन खबर के आने से पहले ही मैं तो विदेश-मंत्री के यहां चला गया था।

बहुत-से लोगों—मंत्रियों और सेनापतियों—ने मुझे सुजनतापूर्ण निमंत्रण दिया है कि जब कभी मौका आये, मैं उनकी सुरंग इस्तेमाल करूं। मेरा अंदाज है कि बमबारी के इस जमाने में यह शिष्टाचार और मित्रभाव की हद है!

सुबह का वक्त मैंने मिलने-मिलाने में बिताया। पहले मैं कोमिंतांग के प्रधान कार्यालय में गया, जहांपर मुझे प्रधान मंत्री डा० चू चिआ ह्वा मिले। कोमिंतांग का विधान और संगठन मुझे समझाने लगे। यह विधान तो बड़ा पेचीदा है और वह कैसे बना और किस तरह उसका संचालन होता है, इस बारे में मुझे बहुत ही धुंधला खयाल रहा। फिर भी मैं इतना तो समझ गया कि कोमिंतांग कोई ज्यादा जनतंत्रीय संस्था नहीं है, चाहे वह कहलाती जनतंत्रीय ही है। उस दिन, बाद में मैंने कुछ मंत्रियों से शासन की रूपरेखा को समझने की कोशिश की। वह तो और भी पेचीदा है और कोमिंतांग और सरकार के बीच का संबंध बड़ा अजीब है। शायद आपसी बातें उनके मजबूत संबंध को कायम किये हुए हैं। मैंने कुछ ऐसी किताबें और कागजात मांगे हैं, जिनसे सरकार और कोमिंतांग का ढांचा समझ सकूं।

उसके बाद मैं विदेश-मंत्री डा० वैंग से मिलने गया, जिनका

बे-बुलाया मेहमान मैं पिछली रात सुरंग के भीतर रहा था। बहुत देर तक हम दिलचस्प बातें करते रहे।

मेरी तीसरी मुलाकात डा० हॉलिंटन के० तांग के साथ हुई, जिनके सुपुर्द प्रकाशन का काम है। उनका और उनके काम का मुझपर अच्छा असर पड़ा।

नदी-किनारे के एक रेस्ट्रां में नाश्ते का इंतजाम बड़े पैमाने पर किया गया था और वह तकल्लुफाना भी था। वह शहर के कारपोरेशन, कोर्मितांग और नगर-रक्षक-सेना के कमांडर की तरफ से दिया गया था। ऐसे तकल्लुफाना जल्से—भले ही मेजबान लोग उनमें काफी घरेलूपन ला देते हों—बड़े परेशान करते हैं। नुमायशी तकरीरें हुईं, जिनका जवाब मैंने गिने-चुने बेजान शब्दों में दिया और फिर उनका तरजुमा हुआ। मेरे वहां पहुंचने और वहां से चलने पर फौजी बाजे बजने लगते हैं और सलामी का तो कोई ठिकाना ही नहीं! मुझे डर है कि मेरी बेतकल्लुफ आदतें इस सबसे मेल नहीं खातीं।

लेकिन सबसे बड़ी आफत तो खाना है, जो चलता ही रहता है, अंत जिसका दीखता ही नहीं। और ठीक उसी वक्त जब मैं सोचता हूं कि चलो, खत्म हुआ, तभी मेज पर आधी दर्जन रकाबियां और आ धमकती हैं। चीनी खाना या उसकी कुछ चीजें मुझे पसंद हैं। उनमें कला होती है। लेकिन खाना मेरी समझ में नहीं आता। मालूम होता है कि मजेदार रकाबियों की बहुत-सी किस्में हैं, जो एक के बाद एक चली आती हैं। खानेवाले थोड़ा-थोड़ा करके उन्हें खाते हैं और तरह-तरह के उम्दा स्वादों का आनंद लेते जाते हैं। खाने का तरीका मैं पसंद नहीं करता। मेरा मतलब चॉप-स्टिकों से नहीं है, जिन्हें होशियारी और लिया-

कत के साथ इस्तैमाल करना होता है। काश कि मैं उनको इस्तैमाल करने में कुशल होता! सारी रकावियां वीच में रख दी जाती हैं और हरेक महमान वीच में रक्खी हुई रसभरी रकावियों में से ही लजीज चीजें उठाता जाता है और लाजिमी तौर से रसभरे कुछ टुकड़े मेजपोश पर गिरते जाते हैं।

तीसरे पहर मेरी एक वड़ी मजेदार मुलाकात मशहूर आठवीं सेना के जनरल ये चियन-यिंग के साथ हुई। आना वोंग उनके साथ थीं, जो मेरी वोली का तर्जुमा करती जाती थीं। आना वोंग जर्मन (आर्य) हैं, पर शादी उनकी चीन में हुई है और तन-मन से वह चीन-निवासिनी हैं। जापानी वमों से वह वाल-वाल वच चुकी हैं।

जनरल ये ने आठवीं सेना के वारे में वातें कीं और वताया कि अपनी फौजी कार्रवाइयों के अलावा और क्या-क्या काम कर रही है। अपने दृष्टिकोण से उन्होंने चीन की मौजूदा हालत भी समझाई।

उसके वाद मैं प्रधान मंत्री या ठीक-ठीक कहें तो एक्जीक्यूटिव युअन के अध्यक्ष डा० कुंग से मिलने गया। वहां से हम एक वड़ी चायपार्टी में गये, जो मेरा स्वागत करने के लिए खास-खास आदमियों की तरफ से दी जा रही थी। पार्टी वड़ी मजेदार रही और वहुत-से मंत्रियों, उपमंत्रियों, भूतपूर्व मंत्रियों और सेनापतियों तक से मेरा मिलना हुआ। चीनी जल-सेना-नायक ने तो मुझे हैरत में डाल दिया। मैंने चीनी जहाजी वेड़े के वारे में पूछा तो उन्होंने कहा कि फिलहाल तो जहाजी वेड़े में सिर्फ थोड़ी-सी तोपवाली नावें हैं। लेकिन कुछ भी हो, जहाजी वेड़े का वाजा तो था ही, जो उस पार्टी में अच्छी तरह से वजाया जा रहा था।

इस पार्टी में मैं जिन लोगों से मिला उनमें सिंकिआंग से आये हुए एक प्रतिनिधि भी थे। वह मेरे संबंध में फारसी में बोले। मुझे बड़ा अचरज हुआ। मेरे स्वागत में उन्होंने जो कुछ कहा, उसके बस एक-दो शब्द मैं समझ सका और उस राजसी भाषा में बात-चीत जारी रखने की अपनी अयोग्यता पर मुझे अफसोस हुआ।

बहुत-से विदेशी पत्रकार, खास तौर से अमरीकन और रूसी पत्रकार, वहां मौजूद थे।

चीनियों के नाम तो एक आफत हैं, खासकर तब जब कि खासी तादाद से मेरा साबका पड़ता है। बहुत-से नाम तो करीब करीब एक-से ही सुनाई दिये। मेरा अंदाज है कि इसी कठिनाई की वजह से चीनी लोगों की विज़िटिंग कार्डों से मुहब्बत बढ़ी। ज्योंही आप किसी चीनी से मिलेंगे, फौरन ही वह अपना कार्ड निकालकर पेश कर देगा। मेरे पास बीसियों ऐसे कार्ड अभी से ही जमा हो गये हैं। हिंदुस्तान में कार्डों का आदी न होने की वजह से मेरे पास अपने कार्ड ज्यादा नहीं हैं; पुराने जरूर मेरे पास पड़े हैं। लेकिन वे कब तक चलेंगे ?

बहुत-से मंत्रियों और दूसरे लोगों के साथ, जिनमें जनरल चैन चेंग भी शामिल थे, भोज हुआ। हम दोनों की एक जबान न होते हुए भी जनरल चैन चेंग को मैं बहुत पसंद करता हूं। वह बेतकल्लुफाना भोज था और हमारी बातचीतें बड़ी मजेदार हुईं चीनी मुझे बहुत अद्भुत और बढ़े-चढ़े लोग जान पड़े। उनसे बात करने में मजा आता है, बशर्ते कि जबान की मुश्किल बीच में न आ जाय।

रात को कोई हवाई हमला नहीं हुआ।

२४ अगस्त, १९३९

: ८ :

रेल में छुट्टी

अधिकतर लोग रेल से लंबी यात्रा करने से डरते हैं और वे भाग्यशाली लोग भी, जो पहले दर्जे या समान तापमान-वाले डब्बों में सफ़र करते हैं, अनेक कष्टों का दुख के साथ वर्णन करते पाये जाते हैं। उनके लिए दूसरे दर्जे में यात्रा करने की संभावना भी बड़े कष्ट की बात है, फिर ड्योढ़ा अथवा तीसरा दर्जा तो उनके लिए खौफ की कोठरी है, जो दोजखी लोगों के दुःखों से या उन गरीबों से भरी हुई है जो अबतक उनसे दूर थे और जिनका मस्तिष्क और शरीर सिर्फ मानव-श्रेणी के ऊपर के दर्जे के लोगों के लिए सुरक्षित सौंदर्य की अनुभूति करने की योग्यता या क्षमता नहीं रखता। यह सच है कि इस देश में समान-तापमानवाले और तीसरे दर्जे के डब्बों में महान अंतर है। वे दो अलग-अलग दुनियाओं के द्योतक हैं। वे मानव-संसार के विभिन्न दर्जों के बीच चौड़ी खाई हैं। यह भी सच है कि भारत में तीसरे दर्जे के यात्रियों के साथ, जिनके कारण रेलविभाग को बहुत बड़ी आय होती है, जो व्यवहार किया जाता है वह बड़ा अपमानजनक और बदनामी का कारण बना हुआ है।

भारतीय रेल गाड़ियों के समान तापमानवाले डब्बों में सफर करने का मुझे कोई अनुभव नहीं है। दूसरी बहुत-सी चीजों की तरह यह मेरी पहुंच से बाहर की चीज हैं। मैं तो सिर्फ़ बाहर से उन आरामदेह डब्बों में झांक ही सकता हूं। पहले दर्जे की यात्रा भी मेरे लिए भूतकाल की धुंधली याद रह गई

है, क्योंकि वहुत समय से मैंने उसमें सफ़र नहीं किया है। मैं तो तीसरे, ड्योढ़े या कभी-कभी दूसरे दर्जे में सफ़र किया करता हूं।

अक्सर मेरे वहुत-से दोस्त, जो आराम की जिंदगी वसर करने के आदी हैं, मेरे नीचे के दर्जों में यात्रा करने पर घवराते हैं और कल्पना करते हैं कि मुझे जाने कितनी तकलीफ होती होगी। उन लोगों की चिंता वेकार है; क्योंकि यह लंवी यात्राएं मेरे लिए वड़ी लाभदायक हैं और मुझे उनसे आराम मिलता है। हालांकि मैं शरीर से वहुत मोटा-तगड़ा नहीं हूं, फिर भी मैं मजवूत हूं और विना किसी तकलीफ़ के, अगर ज्यादा भीड़-भाड़ न हो तो, तीसरे दर्जे में मजे में जा सकता हूं। मैं सोता हूं, आराम लेता हूं, पढ़ता भी हूं और कुछ समय के लिए रोजाना का काम और लोगों से मिलना-जुलना भूल जाता हूं। सौभाग्य से जव भी सोना चाहूं सो लेता हूं। मैं कभी अनिद्रा रोग का शिकार नहीं हुआ। मुझे नींद के लिए कभी परेशान नहीं होना पड़ा। मैं तो उस ओर से उदासीन रहता हूं। अपने-आप नींद आकर मुझे अपने कब्जे में ले लेती है। इसीलिए मैं लंवी यात्राओं की प्रतीक्षा में रहता हूं।

दो दिन हुए, पांच दिन तक व्यस्त रहने के वाद मैंने वंवई छोड़ी। मैं थक गया था और खूव आराम करना और सोना चाहता था। मुझे लखनऊ आना था। एक धीमी रेल, जो पूरे दो रात और एक दिन यानी ३६ घंटों में पहुंचती थी मैंने पसंद की। इस लंवी यात्रा के विचार से और इस वात से कि कोई काम न रहेगा, न मुलाकातों का झगड़ा ही होगा और जितनी देर तक चाहूं सोता रहूं और किताबें पढ़ता रहूं, मैं वहुत

खुश हुआ। इस आराम का पूरा आनंद लेने की गरज से मैंने दूसरे दर्जे में सफ़र करना मुनासिव समझा।

रात के साढ़े दस वजे गाड़ी विक्टोरिया टर्मिनस से चली। मैं अपनी सीट पर विछे विस्तर पर लेट गया और सोना चाहने लगा; किंतु पुरानी आदत ने मुझे एक पुस्तक उठाने को लाचार कर दिया। स्टीफन ज्विग की 'लैटर फ्राम एन अननोन वूमन' पुस्तक मैंने खोल ली। पुस्तक की कोमल और प्रभावोत्पादक कथा ने, जो सुंदर गद्य में लिखी हुई थी, मुझे आधी रात तक जगाए रखा। उसके वाद दस घंटे तक लगातार सोता रहा। दूसरे दिन भी कुछ करने को नहीं था और मेरा मन उतने समय के लिए चिंताओं से मुक्त था और निश्चित समय पर उठने की लाचारी न होने से दिल में कोई परेशानी न थी।

मैंने हजामत वनाई, कपड़े बदले और आराम से चंद कितावें लेकर वैठ गया। सवसे पहले मैंने डब्लू वी. करी की 'दी केस फौर फैडरल यूनियन' पुस्तक उठाली और उसके एक-दो अध्याय पढ़ डाले। पुस्तक दिलचस्प थी और सामयिक भी; किंतु मैं कुछ हल्का साहित्य पढ़ना चाहता था। इसलिए मैंने उसे रख दिया। लेकिन मुझे लगा कि यह पुस्तक स्ट्रीट की 'यूनियन नाउ' की वनिस्वत, जिसमें भारत, चीन तथा सोवियत यूनियन को छोड़कर एक संघीय यूनियन वनाने पर विचार किया गया है, काफी अच्छी थी।

उसके वाद डी० एन० प्रिट की 'लाइट आन मास्को' उठा ली, जो धारावाहिक रूप से कुछ समय पूर्व 'हेराल्ड' में प्रकाशित हो चुकी थी। उसी समय मैंने उसके कुछ अंश पढ़े थे। मैं उसे पूरा पढ़ना चाहता था और वह पढ़ने योग्य निकली भी। याद

कम रह पाता है और जब हम युद्ध के प्रचार में फंस जायं तो यह भूल जाना स्वाभाविक है कि किन कारणों से यूरोप में युद्ध छिड़ा, वे कारण जो ब्रिटिश नीति पर प्रकाश डालते हैं तथा श्री चेंबरलेन की सरकार की असलियत जाहिर करते हैं। यही सरकार युद्ध चला रही है, इसी सरकार के साथ हमें भारत के संबंध में भुगतना होगा। इसलिए हमें यह समझ लेना चाहिए कि गत कई पीढ़ियों से ऐसी प्रतिगामी सरकार ब्रिटेन में नहीं बनी थी। इस सरकार ने यूरोप और दूसरे स्थानों पर प्रजातंत्र को कुचलकर फासिस्टवाद को प्रोत्साहन दिया है। अगर ब्रिटेन की जनता इसी सरकार को स्वीकार किये रहे और हम लोग जनता को भी उसी रूप में देखें तो इसमें हमारा क्या अपराध है ? अगर हमें उसके कार्यों के पीछे, युद्ध से पहले और शुरू होने के बाद, साम्राज्यवाद ही दिखाई दे तो इसमें हमारा क्या दोष है ?

उसके बाद दूसरी किताब उठाली। एच० जी० वैल्स के पुराने निबंधों का संग्रह—'ड्रेवल्स आव ए रिपब्लिकन रैडिकल इन सर्च आव हौट वाटर'। यह पुस्तक भी वैल्स की अन्य कृतियों के समान दिलचस्प और विचारों को उभाड़नेवाली है; किंतु फिर भी इसमें आज की वास्तविकता का स्पर्श नहीं है।

इसके बाद एक दूसरी पुस्तक मैंने ले ली। जार्ग बुचनर का प्रसिद्ध नाटक 'दांटेस टोड' या 'दांतेज डेथ', जो अंग्रेजी में अनूदित था। सौ साल से भी अधिक पहले यह पुस्तक लिखी गई थी और उसके साथ मैं भी फ्रांस की क्रांति के दिल हिला देने-वाले दिनों में पहुंच गया। मेरा दिमाग उस क्रांति के आगे-पीछे हटकर आज हम हिंदवासी जहां खड़े हैं वहां दौड़ गया। अपनी

प्रेमिका को लिखे बुचनर के शब्द जैसे मेरे सामने खड़े हो गए। क्रांति के पीछे छिपे प्राकृतिक और ऐतिहासिक कारणों से वह कितना प्रभावित था! "मैं क्रांति के इतिहास का अध्ययन कर रहा हूं। मुझे लगता है, मानों इतिहास के भयावह भाग्य-वाद ने मुझे मिटा दिया है। मनुष्य की प्रकृति में एक भयानक समानता है, मानव-संबंधों में एक जरूरी हिंसा है, जिसका सब व्यवहार करते हैं और कोई भी नहीं करता। व्यक्ति तो जल के बुदबुदे के समान है, महानता केवल एक संयोग है और प्रतिभा–संपन्नता एक कठपुतली का खेल है, लौह नियम के विरुद्ध एक हास्यास्पद संघर्ष है। वास्तव में उच्च आदर्श कौन-सा है, जो प्राप्त हो सकता है, यह समझना असंभव है।...अनि-वार्यता' उन अभिशापों में से है, जो घुटी के साथ पिलाये जाते हैं। यह कहावत कि अपराध तो होते ही हैं, लेकिन अपराध करनेवाला अभागा है, बड़ी भयानक है। हमारे अंदर वह क्या है, जो झूठ बोलता है, हत्या करता है और चोरी करता है।"

क्या यह ठीक है? क्या हम लोग भाग्य की कठपुतलियां हैं, पानी के ऊपर के बुदबुदे हैं? एक सदी बीत गई, जब बुचनर ने यह लिखा था—महान मानवीय सफलताओं और मनुष्यों की प्राकृतिक नियमों पर विजय की सदी। और फिर भी वह उन वासनाओं को, जो उसे खा जाती हैं, या उन प्राकृतिक प्रेर-णाओं को, जो उसे व्यक्ति या समूह के रूप में संचालित करती हैं, बस में नहीं कर सका और हम एक के बाद दूसरी दुर्घटना में फंसते जा रहे हैं। इस तरह के अनेक दांते-जैसे दुःखी व्यक्तियों की बदनसीबी यह है कि वे इतिहास की प्रक्रियाओं के साथ कदम-से-कदम मिलाकर नहीं चल सकते। उनको कोई

काम करने को नहीं रहता और न वे भाग्य के विधायक ही रह जाते हैं। क्योंकि उनका समय चूक जाता है। इसलिए वे कुछ कर ही नहीं सकते। वे तो शिकायत कर सकते और अपने भाग्य को रो सकते हैं। कमजोरी उनको ग्रस लेती है और साथ ही यह चेतना भी, कि अंत उनका नजदीक है।

फ्रांस की क्रांति से हटकर हम फिर लौटते हैं बीसवीं सदी पर, जिससे हम गुजर चुके हैं उस बीती कल पर, हिंदुस्तान में हमारे लिए सफलता से पूर्ण और यूरोप के लिए मूर्खता से भरी बीसी पर, आगे आनेवाले संकट की बढ़ती हुई चेतना और भय की तीसी पर, और अब फिर गहरे गड्ढे की ओर हमारे कदम बढ़ रहे हैं! मैंने दूसरी किताब उठाली और उसमें उस आकर्षक ज़माने का हाल पढ़ा, जिसे हमने अपनी आंखों से देखा है और जिसका हमपर कितना गहरा असर पड़ा है। यह किताब थी पाइरी फान पैसन की आत्मकथा—'डेज़ आव आवर ईयर्स।'

और इस तरह दिन बीत गया, झांसी आ गई। कुछ थोड़ा और पढ़कर फिर सो गया। सवेरा होते ही लखनऊ आ गया और वह छोटी छुट्टी खत्म हुई।

फरवरी, १९४०

: ९ :

गढ़वाल में पांच दिन

मेरी बहन विजयालक्ष्मी और मैंने हाल ही में पांच दिन गढ़वाल में व्यतीत किये हैं। इन कई वर्षों में मैंने हिंदुस्तान का काफी भ्रमण किया है और युक्तप्रांत के तो हरएक जिले में मैं अनेक बार हो आया हूं, किंतु गढ़वाल ही एक ऐसा जिला रह

गया था, जहां मैं नहीं गया था। हां, करीब डेढ़ साल का अर्सा हुआ होगा जबकि मैं कुछ घंटों के लिए डुगड्डे अवश्य हो आया था। पर्वतमालाएं तो वैसे ही सदा मेरे लिए आकर्षण की वस्तु रही हैं; इसलिए मैं इस कमी को पूरा करने के लिए उत्सुक था। आने-जाने के लिए उपयुक्त मार्ग न होने के कारण अधिक लंबे अर्से की जरूरत थी, इसी कारण मुझे कुछ झिझक था; किंतु गढ़वाली मित्रों के आग्रह से अपनी इसी कमी के ज्ञान ने मुझे इस बात के लिए तैयार कर दिया कि मैं इस कमी को पूरा कर दूं और इन पर्वतमालाओं के लिए भी चन्द दिन निकाल ही लूं। बहन विजयालक्ष्मी और राजा हठीसिंह तथा गढ़वाल के साथी मिल जाने से तो मुझे और भी प्रसन्नता थी।

यह यात्रा यद्यपि बड़ी कठिन थी, तथापि मनोरम भी थी। हम थके-मांदे लौटे; किंतु फिर भी हमारे मस्तिष्क मधुर स्मृतियों से परिपूर्ण थे। हमने गोचर, देवप्रयाग, श्रीनगर, पौडी तथा मार्ग में पड़नेवाले अनेक रमणीक स्थानों को देखा। हमने अपना मार्ग हवाई जहाज़ से, मोटर से, घोड़े की पीठ पर और पैदल तय किया। गाड़ी की सड़क न होने के कारण यहां आने-जाने का मुख्य साधन घोड़ा ही है। हवाई जहाज़ से हम बद्रीनाथ और केदारनाथ तक गये और इन प्राचीन तीर्थ-स्थानों को घेरने वाले उच्च हिमाच्छादित शिखरों के भव्य दृश्य देखे। हम वहां उतर न सके, और हमें गोचर तक आना पड़ा। यहां हमारा वायुयान उतरा। पर्वतीय जनता यहां हमारा स्वागत करने के लिए प्रतीक्षा कर रही थी। फिर हम पांच घंटे की आकाश-मार्ग से यात्रा कर वापस लौटे। पैदल चलकर इस यात्रा को पूरा करने में हमें पांच सप्ताह लग जाते। आकाश-मार्ग से गढ़देश के

नंगे पर्वतों, असंख्य घाटियों और उनके मध्य कलकल करती नदियों को कल्लोल करते देखा। हम गंगा के जन्मस्थान में थे। मैदान में जो गंगा अत्यन्त विशाल-काय और गंभीर दिखाई देती है यहां उसीकी चपल किशोरावस्था की कमनीय झांकी के दर्शन थे। हमने कलकल शब्द पर हर्षातिरेक से खिलखिलाते बालक-जैसी गंगा की धवल-धारा को देखा।

आकाश-मार्ग तय कर हमने सड़क पकड़ी और ऋषिकेश से देवप्रयाग तक गंगा के किनारे-किनारे गए, जहां कि भागीरथी अलकनंदा से मिलती है और मिलने के बाद अन्य नामों को छोड़कर गंगा नाम धारण कर लेती है। यही वह नदी है, जिसने हजारों वर्षों से हिंदुस्तान के हृदय को जीत रक्खा है। दोनों नदियों के संगम के उस पार तट पर देवप्रयाग के नीचे नदी की धारा बहती है। देखने से ऐसा मालूम होता है मानों देव-प्रयाग प्रेमपूर्ण नेत्रों से नदी के प्रवाह की ओर देख रहा है और उसका आलिंगन करना ही चाहता है।

अलकनंदा के किनारे-किनारे हम घोड़े पर रवाना हुए। हमारे साथ-ही-साथ बद्रीनाथ जानेवाले संन्यासी और यात्री धीरे-धीरे पैदल चल रहे थे। उनका विश्वास ही उनकी यात्रा की थकान को दूर कर उन्हें सांत्वना देता है। घोड़े का मार्ग ठीक था। कहीं-कहीं यह बहुत टेढ़ा हो जाता था और कहीं इतना सीधा कि ज़रा भी पैर फिसलने से आदमी सैकड़ों फुट नीचे बहनेवाली नदी में गिर सकता था। अन्य यात्रियों की करतल-ध्वनि और फूलों की वर्षा इस अवसर पर इतनी सुहावनी नहीं मालूम पड़ती थी जितनी कि साधारणतया हुआ करती है; क्योंकि इससे हमारे घोड़े चौंक जाते थे।

सूर्य गर्म था और छाया कम थी, इसलिए मार्ग कष्टप्रद होता जाता था। सारे रास्ते एक प्रकार के जंगली वेला के फूल खिले थे, जिनकी सुगंध हमारे मस्तिष्क में आनंद का एक स्रोत उत्पन्न कर देती थी। जंगली नागफनी के पेड़ भी रास्ते में काफी थे। जंगलों का पता नहीं था और पहाड़ एकदम नंगे थे। सीढ़ियों के आकार के पेड़ भी वंजर ही-से नजर आते थे।

हम एक मनोरम तथा विस्तृत घाटी में स्थित श्रीनगर में पहुंचे। अलकनंदा इसके पास ही वड़ी मंद गति से वहती है। नदी में लकड़ी के टुकड़े ऊपर से वहाकर लाये जाते हैं। श्रीनगर गढ़वाल की पुरानी शान से,जवकि यह गढ़वाली राज्य की राजधानी था, वंचित एक छोटा-सा नगर है। यहां हम दो दिन ठहरे। राजनैतिक सम्मेलन में भाग लिया और अपने वहुत-से पुराने सहयोगियों से मिले। इसके वाद पर्वत के शिखर पर स्थित पौड़ी की ओर रवाना हुए। यहां से वद्रीनाथ, केदारनाथ, चौखम्भा, त्रिशूल और नंदादेवी के उच्च हिमाच्छादित शिखर दिखाई देते हैं। सारे रास्ते हम ग्रामीण स्त्री-पुरुषों और वच्चों से मिले, जो प्रेमपूर्वक हमारा स्वागत करने के लिए आए थे।

पौड़ी का कार्यक्रम भी काफी था। एक रात वहां रहकर थके-मांदे घोड़ों पर सवार हो रास्ते में ठहरते और सभाओं में भाषण देते हुए देवप्रयाग लौट आये। देवप्रयाग से हरिद्वार और फिर रेलगाड़ी पकड़ी।

गढ़वाल एक दरिद्र प्रांत है और वह एक प्रकार देश से कटा हुआ-सा ही है। यह वड़ी अजीव वात है कि जहां हम शेष संसार के इतने निकट हैं वहां उससे हम एकदम कितने कटे हुए भी हैं। जैसे हजारों वर्ष पूर्व वीस मील की यात्रा एक दिन की वात थी,

वैसे ही आज भी बनी हुई है। गत वर्षों में आने-जाने के साधनों में काफी तब्दीलियां हुई हैं; किंतु फिर भी यहां की यात्रा घोड़े पर या पैदल ही की जा सकती है। आधुनिक संसार के आविष्कारों और वैज्ञानिक चमत्कारों का पता यहां केवल तार के खंभों से ही चलता था। इस विशाल जिले में सड़क का न होना एक बड़ी आश्चर्य की बात है। गत महायुद्ध के समय गढ़वाल निवासियों को आश्वासन दिया गया था कि वहां रेल बना दी जायगी। इतना ही नहीं, कई लाख रुपया व्यय करके इसके लिए नाप-तोल भी की गई। किंतु न तो रेल ही बनी और न सड़क ही तैयार हुई। यदि गढ़वाल में कोई रैजिमैंट रक्खी हुई होती या ब्रिटिश अधिकारियों की काफी बस्ती होती तो सड़क कभी की बन गई होती। अधिकारी गढ़वाल में रहना पसंद नहीं करते हैं और एक प्रकार से उसे निर्वासन ही-सा समझते हैं। उच्च अधिकारी भी निरीक्षण के लिए यहां बहुत कम आते हैं। इतना होने पर भी यदि ब्रिटिश-सरकार को कोई खास एतराज न होता तो यह सड़क अवश्य बन गई होती। मेरा विचार है कि सरकार को जो एतराज है वह इसी आधार पर है कि वह गढ़वाल पर राजनैतिक हलचलों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ने देना चाहती, क्योंकि वह यहां से सेना के लिए रंगरूट भर्ती करती है। गढ़वाली सेनाएं काफी प्रसिद्ध हैं, किंतु मुझे यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि इस जिले के हजारों व्यक्ति बंगाल की सशस्त्र पुलिस में नौकर हैं। वे अत्यन्त गरीब हैं और मौजूदा हालत में यह जिला उनका भरण-पोषण नहीं कर सकता। औद्योगिक धंधे तो नहीं के बराबर हैं, इसलिए उनका दूसरी जगहों में नौकरी तलाश करना जरूरी है।

हम बहुत-से स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चों से मिले और मैंने उनसे कई सवाल किये। मुझे पता चला कि उनमें से ९० फीसदी से भी ज्यादा बच्चे ऐसे थे, जिन्होंने मोटर और रेलगाड़ी तो क्या, गाड़ी भी कभी नहीं देखी थी। हमारे जाने से कुछ दिन पहले उन्होंने एक हवाई जहाज देखा था।

गढ़वाल में शीघ्र एक सड़क अवश्य बन जानी चाहिए। बिना सड़क के वह उन्नति नहीं कर सकता। केवल सड़क ही काफी नहीं है वरन् जनता की उत्पादन-शक्ति में भी सुधार करने की अत्यधिक आवश्यकता है। सड़क की मांग के अलावा मुख्य शिकायतें पानी की कमी, भारी टैक्स, डाक्टरी सहायता और स्कूलों की कमी हैं। यदि एक आदमी सख्त बीमार पड़ जाता है तो यह भी संभव नहीं है कि उसे समीप के अस्पताल तक ले जाया जा सके। वह मर जाता है या यदि भाग्यवान हुआ तो बच जाता है। शिक्षा की जोरदार मांग है, किंतु स्कूल कम हैं और जो है वह काफी फासले पर हैं।

खेतों के लिए पानी की कमी होना बड़े ताज्जुब की बात मालूम पड़ी; क्योंकि यहां नदियां और झरने काफी तादाद में हैं। दरियाओं की घटियों के खेत सूखे दिखाई दिये। हमने सीढ़ी के आकारवाले अनेक खेत देखे, जो कठिन परिश्रम के पश्चात पर्वत की शिलाओं को काटकर बनाये गए हैं। यह खेत बेकार ही बिना जुताई के पड़े थे, क्योंकि उनका जोतना उपयोगी नहीं समझा गया। जंगलों की कमी और जमीन के आम तौर पर बंजर होने के कारण पानी का अभाव और अधिक खलता है। मेरी समझ में नहीं आया कि जब कुमायूं में इतने अधिक जंगल हैं तो गढ़वाल में इतने कम क्यों हैं? जमीन तथा

अन्य वातावरण भी उतना हीं अच्छा है जितना कमायूं का। क्या यह मनुष्य की गलती है—किसानों की मूढ़ता है या अयोग्यता या सरकार की लापरवाही ?

इस गरीबी और बंजरपन के बीच भी हमें यह प्रतीत हुआ कि गढ़वाल में अनेक शक्तिशाली साधन छिपे पड़े हैं। जल-शक्ति जहां-तहां बरबाद हो रही है। इससे बिजली पैदा करके लाभ उठाया जा सकता है और इससे खेत तथा उद्योग-धंधों को भी जीवन मिल सकता है शायद यहां बहुत-से खनिज पदार्थ भी हैं, जिन्हें खोजने की आवश्यकता है।

गढ़वाल में सड़कें बननी चाहिए, किंतु साथ ही यह भी अत्यंत आवश्यक है कि यहां के खनिज पदार्थों और शक्ति-शाली साधनों की जांच हो। इससे केवल गढ़वाल को ही बिजली नहीं मिलेगी; बल्कि प्रांत के अन्य भागों को भी पहुंचाई जा सकती है। इस प्रकार गढ़वाल के लिए विशेषज्ञों की दो कमेटियों की शीघ्र ही नियुक्ति होनी चाहिए। एक कमेटी खनिज पदार्थों की खोज करे और दूसरी पानी के उपयोग की तरकीब निकाले और हाइड्रोइलेक्ट्रिक योजना तैयार करे।

जबतक ये योजनाएं पूरी हों तबतक यह संभव है कि दरि-याओं का पानी खेतों तक पहुंचाने के लिए पंप बना दिये जायं।

उद्योग-धंधों के विकास के लिए भी गढ़वाल में काफी मौका है। इन धंधों में ऊन की कताई और बुनाई मुख्य धंधे हो सकते हैं। इनका विकास भी सुगमता से किया जा सकता है। कमायूं में इन धंधों को विकसित करने में काफी सफलता मिल सकती है। मुझे तो कोई वजह नहीं मालूम पड़ती कि वहां उतनी सफलता नहीं मिलेगी।

गढ़वाल में मधु-मक्खी पालना भी साधारण बात है; किंतु जो तरीके इसके लिए काम में आते हैं वे पुराने हैं और उनमें सुधार की अवश्यकता है।

साथ ही मैं यह भी कहूंगा कि मुझे गढ़वालियों में उत्साह की कमी दिखाई पड़ी। ऐसा मालूम होता है कि निराश होकर उन्होंने अपनेको भाग्य के आसरे छोड़ दिया है और इसकी यह प्रतिक्रिया हुई है कि वे दूसरों से कहते हैं कि वही उनके लिए कुछ करें। वे शायद कभी ही स्वयं कुछ करने की सोचते हों। चिरकाल की गरीबी का यह परिणाम होना स्वाभाविक ही हैं; किंतु यह दूर हो जायगा। गढ़वाली बहादुर और हट्टे-कट्टे होते हैं और यदि उन्हें अवसर दिया जाय तो वे कुछ करके दिखा सकेंगे। आठ वर्ष हुए जब देश भर में सविनय-अवज्ञा-आंदोलन का दौरदौरा था और आजादी की लड़ाई में भाग लेकर जब हमारी नसों का खून दौड़ रहा था तब सरहद में उन्होंने जो वीरता का काम किया उससे वे सारे देश के प्रिय-पात्र हो गये हैं।

मई, १९३८

: १० :

सूरमा घाटी में

जब मैं एक घाटी से दूसरी घाटी में गुजर रहा था तो दोनों तरफ के घने जंगल में से रेल बहुत धीरे-धीरे जा रही थी। ऐसा मालूम पड़ता था कि जंगल में घुसना आसान नहीं है। रेल की पटरियों के दोनों तरफ जंगल इतने नजदीक तक आ गये थे कि निकलने के लिए बहुत तंग रास्ता रह गया था। जंगल की लाख-लाख आंखें मानव के इस प्रयत्न पर विद्वेष से देखती थीं और

उसके खिलाफ़ विरोध से भरी हुई थीं, कि क्यों उसके विरुद्ध उसने इतनी जुर्रत की और अपना राज्य बढ़ाने के लिए उसे साफ कर डाला ? वन लाखों मुंह फाड़कर मनुष्य को और उसके काम को हड़प लेना चाहता था।

मैं शहरों और मैदानों का रहने वाला हूं। लेकिन वन और पर्वत की पुकार मेरे अंदर हमेशा तेज बनी रहती है। मैं जंगलों की तरफ हक्का-बक्का देखने लगा और आश्चर्य करने लगा कि इसके घने अंधकार में न जाने कितने प्रकार के जीव और क्या-क्या दु:खांत चीजें छिपी हुई हैं। क्या इन जंगलों की असीम प्रकृति या खून से सनी प्रकृति उन शहरों और बस्तियों की प्रकृति से, जहां मर्द और औरतें रहते हैं, गई-बीती हैं ? एक जंगली जानवर तो सिर्फ भूख बुझाने के लिए ही दूसरों को मारता है। वह खेल के लिए या मारने का आनंद लेने के लिए दूसरों को खत्म नहीं करता। जंगल के भयानक युद्ध व्यक्तिगत होते हैं। यहां जनसंहार, जिनको लोग युद्ध कहते हैं, नहीं होते। न बम डालकर या जहरीली गैस छोड़कर बड़े पैमाने पर नाश ही किया जाता है। जंगल और जंगली पशु इंसान से तुलना करने पर कहीं बेहतर मालूम होते हैं !

सामने से गुज़रते जंगलों को देखकर इस प्रकार के विचार मेरे मन में उठ रहे थे। छोटे-छोटे स्टेशनों पर लोग जमा हो जाते थे और बहुत-से पहाड़ी लोग फल, फूल, कपड़े, जो उन्होंने स्वयं तैयार किये थे, और ताजा दूध तथा कीमती तोहफे लेकर मेरा स्वागत करने के लिए आये। चमकती हुई आंखोंवाले नागों के बच्चों ने मुझे पहनने के लिए मालाएं दीं। इन पहाड़ी लोगों में से कुछने कांग्रेस के काम के लिए मुझे कुछ पैसे भी दिये, जिनमें

तांबे और निकल के सिक्के थे। उनकी प्रेम और श्रद्धाभरी आंखों के सामने मैं शर्म के मारे झुक गया। इनके सामने शहरों को क्या कहा जाय, जहां स्वार्थपरायणता, चालबाजी और रुपये की लूट-खसोट से काम चलता है?

आखिर हम अपनी मंजिल पर आ पहुंचें, जहां बहुत भीड़ जमा हो गई थी। हमारा जोरदार स्वागत किया गया और वंदेमातरम् के नारों से आसमान गूंज उठा। मोटर से गांवों में होकर हम लोगों ने आगे का रास्ता पार किया। सब जगह भीड़ और स्वागत। फिर हम सिलचर पहुंचे। शहर की आबादी से भी ज्यादा लोग वहां मीटिंग में जमा हो गये थे। शायद बहुत-से लोग आस-पास के गांवों से आ गये थे।

तीन दिन तक मैं विशेषतया सिलहट जिले में घाटी के इधर-उधर रहा। आसाम की घाटी की तरह यहां भी सड़कें प्रायः बहुत खराब थीं और कई जगह नावों में बैठकर पार उतरना पड़ा; लेकिन चारों ओर का दृश्य इतना सुंदर और मोहक था कि मैं सड़क की खराबी को भूल गया और जनता की तरफ से जो शानदार स्वागत हुआ उससे मेरा दिल फड़क उठा।

सिलहट निश्चित बंगाल है। भाषा इस बात को सिद्ध करती है और वहां के जमींदारी किसान भी, जो वहां इकट्ठे हुए। उनमें बहुत-से मुसलमान थे। सिलहट ब्रह्मपुत्र की घाटी से भी कुछ मिलता-जुलता है। दोनों में एक-से चाय के बाग हैं, जिनमें दुखी और बेबस मजदूर काम करते हैं। ऐसे अलग किये हुए इलाके भी हैं जहां आदिवासी रहते हैं। सिलहट बंगाल अवश्य है, लेकिन इसका कुछ निजीपन भी है, जिसको स्पष्ट करना बहुत कठिन है, फिर भी वहां के वातावरण में साफ देखा

जा सकता है।

मुझे यह देखकर बड़ी खुशी हुई कि जनता में, हिंदू और मुसलमानों दोनों तथा पहाड़ी लोगों के दिलों में कांग्रेस के लिए बड़ा उत्साह था। यह स्पष्ट था कि पहले वहां अच्छा काम किया गया था और उसका नतीजा अच्छा ही दिखाई देता था। यह देखकर खुशी होती थी कि जिले के सब हिस्सों में ईमानदार कार्यकर्त्ता मौजूद थे। सिलहट में भी बहुत-से वैसे कार्यकर्त्ता थे और जनता भी बहुत अच्छी थी। इसलिए सिलहट से बहुत-कुछ उम्मीद रखी जा सकती है। दुर्भाग्य से वहां कुछ स्थानीय झगड़े उठ खड़े हुए थे, जिनसे अच्छे काम के रास्ते में बाधा पड़ गई; लेकिन यह गड़बड़ ज्यादा दिन नहीं चलने दी जा सकती। व्यक्ति की अपेक्षा ध्येय की ज्यादा अहमियत है और जो कार्यकर्त्ता इसको महसूस नहीं करता, वह कांग्रेसी आदमी के पहले पाठ को ही सीखने में नाकामयाब रहता है। लेकिन मुझे सिलहट, उसकी जनता और कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं पर, जो कि बड़ी तत्परता से काम करते हैं और जिन्होंने अबतक बहुत-सी कुरबानियां की हैं, विश्वास है। सिलहट छोड़ते वक्त जब मुझसे संदेश देने को कहा गया तो मैंने कहा, "शाबाश सिलहट! तेरी तरक्की हो!"

सिलहट के भानुबिल इलाके में मणीपुरियों से मिलने का मौका हुआ। मेरे स्वागत के लिए व्यवस्थित पंक्तियों में बैठीं मणीपुर की स्त्रियां और लड़कियां सैकड़ों चर्खे चला रही थीं और उनके आदमी और सुंदर बच्चे उनके पास खड़े थे। मुझे इन मणीपुरियों को देखकर आश्चर्य और आनंद हुआ। सिविल नाफ़र्मानी के आंदोलन में जो वीरता उन्होंने दिखलाई थी, वह जानकर बड़ी खुशी हुई। कुछ वर्ष पहले जबकि उनका कर बढ़ाने

का प्रयत्न किया था तो इन्होंने कर न देने का एक अपना आर्थिक आंदोलन भी शुरू किया था।

यहां के लोग बिल्कुल नए थे, मेरे लिए नए और वे भारतवर्ष के बाकी लोगों से, जिन्हें मैंने देखा था, भिन्न थे। हम अपने ही देश और उसके वासियों के बारे में कितना कम ज्ञान रखते हैं ! उनका रूप-रंग मंगोलियन था और वे कुछ-कुछ बर्मावालों से भी मिलते-जुलते थे। और बहुत-सी बातों के साथ-साथ उनकी स्त्रियों की पोशाक भी बर्मावालों के जैसी ही थी। वे बहुत ही साफ और सुथरे थे। उनकी नौजवान लड़कियां, जिनकी आंखों में हँसी खेल रही थी, मौजूदा जमाने की लगती थीं। उनके बच्चे भी बड़े खूबसूरत मालूम देते थे। उनके सिर के बाल ऊपर मस्तक पर से थोड़े कटे हुए थे और उन्हें बड़ी सफ़ाई से सामने सजाया गया था। ये सब सुंदर लोग किसान थे, जिन्हें थोड़ी या बिल्कुल भी शिक्षा नहीं मिली थी। वे अच्छा कातना और बुनना जानते थे और उन्हें अपने ऊपर अभिमान था। ये सब वैष्णव थे। लेकिन इनमें भी कुछ बर्मी रस्म-रिवाज आ मिले थे और जैसाकि मुझे बतलाया गया कि इनके यहां भी विवाह रद्द किया जा सकता है।

दोनों घाटियों के बीच में मणीपुर रियासत है, जो इन लोगों का केंद्र है और वहां से ये भानुबिल शाखा कुछ पीढ़ी पहले चली आई थी; लेकिन यह कहना कठिन है कि शुरू में ये लोग कब बर्मा से या और कहीं से आए। मेरा खयाल है कि ये लोग पिछड़ी हुई जाति में समझे जाते हैं; लेकिन यदि इनको ठीक शिक्षा और विकास पाने का मौका दिया जाय, तो ये सुंदर और बुद्धिमान लोग क्या नहीं कर सकते ?

सिलहट में मुझे कुछ मुस्लिम माहीगीर मिले, जिन्होंने शिकायत की कि उनके स्वधर्मी ही उनको अछूत और जाति-वहिष्कृत मानते हैं।

सिलहट में आस-पास की पहाड़ियों से बहुत-से नागा लोग भी कुछ तोहफे लेकर मेरा स्वागत करने के लिए आए। उनसे और अन्य लोगों से एक कहानी सुनी, जो भारत को याद रखनी चाहिए। यह एक उन्हींके कबीले की जवान स्त्री की कहानी है, जो नागा पहाड़ियों की कोबोई जाति से संबंध रखती थी। वह स्त्री पुजारियों के एक वर्ग की थी, और उसे मिशन स्कूल में तालीम हासिल करने का खास मौका मिला, जोकि उसकी जाति में मिलना दुर्लभ है। वह नवीं या दसवीं जमात में थी। उसका नाम गिडालो था। आज से ६ वर्ष पूर्व जबकि हिंदुस्तान में चारों ओर सिविल नाफ़रमानी का जोर बढ़ रहा था, उसकी उमर करीब १६ बरस की थी। गांधीजी और कांग्रेस की खबरें उसके पहाड़ी निवास-स्थान तक भी पहुंचीं, जिसकी प्रतिध्वनि उसके हृदय में हुई उसने अपने लोगों की स्वतंत्रता का और उनके कड़े बंधनों को दूर कर देने का स्वप्न देखा। उसने आजादी का झंडा बुलंद किया और अपने लोगों को उसके नीचे इकट्ठे होने का आह्वान किया। शायद उसका यह खयाल कि ब्रिटिश साम्राज्य नष्ट हो रहा है, वक्त से पहले था। ब्रिटिश साम्राज्य का अभी दौर-दौरा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि उससे और उसके लोगों से सरकार ने खूब बदला निकाला। बहुत-से गांव जला दिये गए और बरबाद कर दिये गए। इस वीर लड़की को पकड़ लिया गया और उमरभर की कैद की सजा दी गई। अब वह आसाम की किसी जेल की तंग कोठरी और तनहाई में अपनी जवानी नष्ट

कर रही होगी। वह छः वर्ष से वहीं पड़ी है। वह लड़की जिसने अपने यौवन की तरंग में ब्रिटिश साम्राज्य को ललकारा, कितनी सताई गई है और उसकी भावनाओं को कितना कुचला गया है? अब उसे पहाड़ी प्रदेशों के घने जंगलों में घूमने या पर्वतों की ताजी हवा में गीत गाने की आजादी नहीं है। यह जंगली वीर लड़की कुछ ही गज की दूरी पर एक तंग अंधेरी कोठरी में बंद पड़ी है और दिल मसोसकर रह जाती है। और हिंदुस्तान इस बहादुर लड़की को; जिसकी रग-रग में पर्वतों की स्वतंत्र भावना है, जानता तक नहीं है! लेकिन उसके अपने देश के लोग 'गिडालो रानी' को अच्छी तरह जानते हैं और उसका नाम बड़े प्रेम और अभिमान से लेते हैं। एक दिन आयगा जब भारत भी उसको याद करेगा और उसको जेल की कोठरी से बाहर निकालेगा।

लेकिन हमारा तथाकथित प्रांतीय स्वायत्तशासन उसको आजाद कराने में सहायक नहीं हो सकता। उससे अधिक प्रयत्न की आवश्यकता है, कारण कि अलग किए हुए इलाके प्रांतीय मंत्रिमंडल के कार्यक्षेत्र से बाहर हैं और यह आश्चर्य की बात है कि ये इलाके प्रांतीय स्वायत्तशासन मिलने से पहले की अपेक्षा अब और भी दूर हो गए हैं। आसाम धारासभा में गिडालो के बारे में प्रश्न करने की भी इजाजत नहीं दी गई। १९३५ का भारत सरकार एक्ट हमें इस प्रकार के स्वराज्य की ओर ले जाता है!

अंधेरा हो चुका था और मेरा दौरा भी खत्म होने वाला था। हम कुछ रात बीते हाबीगंज पहुंचे और वहां सभा करके ट्रेन पकड़ने के लिए जल्दी से शाइस्तागंज आए। क्षितिज पर आधा चांद खड़ा था, जिसकी रुपहली आभा चली गई थी, और

वह उदास और पीला नजर आता था। मैंने पिछले १२ दिनों की दौड़-धूप, भीड़ और जोश-खरोश की कल्पना की, जो अब सपने-जैसे नजर आते थे। मुझे जेल की कोठरी में बैठी हुई गिडालो रानी की याद आई। वह क्या सोच रही होगी? क्या-क्या सोच-कर अफसोस कर रही होगी और कैसे-कैसे सपने देख रही होगी!
दिसंबर, १९३७

: ११ :

काश्मीर में बारह दिन

"मेरी आंखों के सामने पहाड़ों का दृश्य घूमता रहता है, और वहां के खतरे भी सुहावने लगते हैं। मेरा हृदय उन शांत हिम-कणों के लिए तरसता रहता है।"

आज से कोई छः बरस पहले जब मैं जेल में बैठा हुआ अपनी कहानी लिख रहा था और काश्मीर की अपनी पिछली यात्रा को याद कर रहा था तो वाल्टर डी ला मेयर के ये शब्द उद्धृत किए थे। चाहे मैं जेल में हूं, या बाहर; लेकिन काश्मीर की याद मुझे बराबर आती रहती है। यद्यपि वहां के पहाड़ और घाटियों के देखे हुए बहुत समय गुज़र चुका है, फिर भी उनकी याद हरदम बनी रहती है। इच्छा थी कि मैं एक बार फिर वहां जाऊं, लेकिन अपनी इस ख्वाहिश को रोकने के लिए मुझे काफी संघर्ष करना पड़ा। क्या मेरे लिए यह वाजिब था कि मैं अपने उस काम को छोड़ देता, जिसमें मेरा तमाम समय लगा हुआ था, और वहां केवल अपनी आंखों और दिली इच्छा को तृप्त करने के लिए भाग जाता?

लेकिन दिन, महीने वर्ष गुजर गए। आदमी की जिंदगी थोड़ी है और ज्यों-ज्यों समय गुज़रता गया मुझे एक तरह डर-

सा लगने लगा। बड़ी उमर का फायदा हो सकता है, विशेषकर चीनवालों ने तो औरों की अपेक्षा इसकी बहुत ही प्रशंसा की है। बड़ी उमर में स्थितप्रज्ञता आ जाती है, एक प्रकार का संतुलन कायम हो जाता है, बुद्धिमानी दरशने लगती है, यहांतक कि हर तरह की सुंदरता की परख भी बढ़ जाती है; लेकिन साथ ही आदमी में लचीलापन नहीं रहता। बाहरी प्रभाव भी उसपर बहुत कम पड़ता है। उसके भावों को आसानी से बदला नहीं जा सकता। भावों की प्रतिक्रिया सीमित होती है। मनुष्य जोश में पागल होने की बजाय बड़ी उमर में आराम और सुरक्षा की ओर ज्यादा ध्यान देता है। प्रकृति और कला के सौंदर्य का वह गंभीरता से विवेचन तो कर सकता है; लेकिन उस सौंदर्य की झलक उसकी आंखों या दिल में नहीं दिखाई देती। इस बात से जमीन आसमान का अंतर पड़ जाता है कि इटली की—फासिस्ट इटली नहीं, बल्कि संगीत, काव्य और कला-पूर्ण इटली अर्थात् लीयोनार्डो, राफेल, माइकल एंजिलो, डान्ते और पेट्रार्क की इटली—यात्रा कोई जवानी में करता है या बुढ़ापे में। बुढ़ापे में तो सिवाय इसके कि चुपचाप बैठकर पर्वतों को मौन आश्चर्य के साथ देखा जाय, और क्या हो सकता है?

ज्यों-ज्यों समय गुज़रता गया और मेरी उमर धीरे-धीरे बुढ़ापे की ओर बढ़ती गई, मुझे डर लगने लगा कि अगर मैं फिर वहां जा भी सका तो भी शायद ही वहां के सौंदर्य को हृदय में महसूस करने के योग्य रहूं!

काश्मीर में मित्रों ने बार-बार मुझे बुलाया। शेख अब्दुल्ला ने कई बार मुझे मजबूर किया और प्रत्येक काश्मीरी ने याद दिलाया कि मैं भी काश्मीर का बेटा हूं और मेरा भी उसके प्रति

कुछ कर्तव्य है। मैं उनके आग्रह पर हँसता था; क्योंकि मेरे दिल में वहां जाने के लिए उनसब बातों से, जो वे मेरे सामने रख रहे थे, बढ़कर प्रेरणा मौजूद थी। पिछले वर्ष मैंने वहां जाने का और संभव हो तो गांधीजी को भी साथ ले जाने का पक्का इरादा कर लिया था; पर भाग्य में कुछ और ही लिखा था। ऐन मौके पर मुझे हवाई जहाज से भारत के दूसरे छोर अर्थात् समुद्र पार लंका जाना पड़ा और वहां से वापसी पर चीन।

इसी बीच हालात बहुत तेजी से बदल गए। यूरोप में लड़ाई छिड़ गई और नई-नई कठिनाइयां आने लगीं, और मुझे भय लगने लगा कि मैं इन घटनाओं में अधिकाधिक फँसता जा रहा हूं। क्या काश्मीर जाने की मेरी संभावना फिर दूर पड़ जायगी? लेकिन भाग्य की इस करतूत के खिलाफ मेरे दिमाग ने विद्रोह कर दिया और जिस समय फ्रांस का भाग्य बीच में लटक रहा था, मैं सीमाप्रांत गया और वहां से काश्मीर।

मैं एबटाबाद और जेहलम की घाटी के रास्ते से गया। यह रास्ता निहायत सुहावना है, जिसमें घाटी के सौंदर्य और आकर्षण का दृश्य धीरे-धीरे आंखों के सामने खुलता जाता है। लेकिन शायद यह अच्छा होता कि मैं जम्मू और पीरपंचाल के रास्ते से जाता। यह रास्ता ज्यादातर सुनसान है। लेकिन ज्योंही पर्वत को पार करके लंबी सुरंग में से गुज़रकर बाहर निकलते हैं, हृदय को मुग्ध करनेवाला सुंदर दृश्य नजर आता है। अंधेरे से एकदम उजाले में चले जाते हैं और वहां बहुत नीचे काश्मीर की घाटी है जो हमारे स्वप्न के आश्चर्य-लोक की भांति सामने आती है और जिसके चारों ओर पहाड़ चौकसाई से पहरा देते हैं।

लेकिन मैं इस रास्ते से नहीं गया। मेरा रास्ता कुछ कम रोचक था; लेकिन मेरा हृदय दूसरे रास्ते से लौटने की उमंग से भर रहा था। बहुत दिनों बाहर रहकर, अपनी मातृभूमि में पहुंचने पर सब जगह एक भाई या पुराने दोस्त की भांति स्वागत पाना बहुत अच्छा लगता था। जिन चित्रों की कल्पना मैंने कई वर्षों से सहेज कर रक्खी थी उनको प्रत्यक्ष सामने देखकर बहुत आनंद मिला। मैं पहाड़ों और उस तंग घाटी से, जिसमें दरिया जेहलम नीचे की ओर तेजी से बह रहा था, बाहर निकल आया और सामने काश्मीर की घाटी नजर आने लगी। सामने देवदार के पतले-पतले वृक्ष पहरेदार की तरह खड़े स्वागत कर रहे थे। पास ही चिनार के शानदार विशाल वृक्ष थे जो सदियों से वहां खड़े थे। खेतों में काश्मीर की सुंदर स्त्रियां और बच्चे काम कर रहे थे।

हम श्रीनगर पहुंचे। वहां सब जगह पुराने मित्रों ने हमारा स्वागत किया। हम दरिया में ऊपर की तरफ एक बढ़िया नाव में बैठकर गए। पीछे-पीछे बहुत-से शिकारे आ रहे थे और दरिया के दोनों किनारों के मकानों में स्त्री-पुरुष और बच्चे बहुत खुश दीख पड़ते थे। मुझपर जो प्रेम की बौछार की गई उससे मेरा हृदय इतना प्रभावित हुआ कि उतना पहले शायद ही कभी हुआ हो, और ज्योंही श्रीनगर का दृश्य मेरी आंखों के सामने से गुजरा, मेरा दिल इतना उमड़ आया कि मैं कुछ बोल न सका। पीछे की तरफ 'हारी पर्वत' था और सामने कुछ फासले पर शंकराचार्य या तख्तेसुलेमान नजर आता था। मैं काश्मीर के अंदर पहुंच गया था।

मैंने काश्मीर में बारह दिन गुजारे। इस अरसे में हम कुछ

दूर ऊपर अमरनाथ की घाटी तक और लिद्दर की घाटी से ऊपर कोलहाई ग्लेशियर तक गये। हमने मार्तण्ड के प्राचीन मंदिर के दर्शन किए और विजविहारा के प्रतिष्ठित चिनार वृक्षों के नीचे भी वैठे, जो कि पिछले चार सौ वर्षों में खूव फैल-फूल गए हैं। हम मुगल वाग में इधर-उधर घूमे और कुछ देर के लिए पुराने शानदार जमाने में पहुंच गये। हमने चश्मेशाही का मजेदार जल पिया और डल झील में थोड़ी देर तैरे। काश्मीर के होशियार कारीगरों की सुंदर दस्तकारी को भी देखा। वहुत-से जलसों में शरीक हुए, भाषण दिये और सव प्रकार के लोगों से मिलना-जुलना हुआ।

मैंने उस समय की कार्रवाइयों में दिल लगाने की कोशिश की। किसी हद तक कामयाव भी हुआ; लेकिन अधिकतर मेरा दिल कहीं और ही था, और मैं दिनभर के कार्य-क्रम और सार्वजनिक जलसों में उस आदमी की तरह हिस्सा ले रहा था, जो किसी दूसरे ही कार्य में लगा हो, या किसी ऐसे छिपे काम पर आया हो, जिसको सवके सामने जाहिर नहीं कर सकता हो। वहां मैं ऐसे घूमता-फिरा जैसे कोई सौंदर्य के नशे में हो और वह नशा मेरे दिमाग पर पूरी तरह हावी था।

काश्मीर की नदियों, घाटियों, झील और शानदार वृक्षों का सौंदर्य मानवता से ऊपर उठी हुई अति रूपवती युवती की भांति नजर आता था। दूसरी ओर विशाल पर्वतों और चट्टानों, वर्फ से ढकी हुई चोटियों, ग्लेशियर और तेजी से नीचे घाटियों में गिरते हुए झरनों का भयानक दृश्य था। उन सवके सैकड़ों रूप थे, अनगिनत पहलू, जो घड़ी-घड़ी वदलते थे। कभी मुस्कराते दीखते तो कभी दुःख से व्याकुल। डल झील पर से

कुहरा उठता दिखाई देता था, जिसमें से पारदर्शक वुर्के की तरह पीछे की सब चीजें नजर आती थीं। पहाड़ की चोटियों को आलिंगन में भर लेने के लिए बादल बांहें फैला देते थे या बच्चों की तरह चुपचाप खेलने के लिए नीचे को खिसक जाते थे। मैंने इस घड़ी-घड़ी बदलनेवाले दृश्य को जी भरकर देखा और उसकी सुंदरता पर मुग्ध-सा हो गया। जिस समय मैं यह दृश्य देख रहा था मुझे ऐसा लगता था मानों मैं सपना देख रहा हूं और ये चीजें ऐसी ही झूठी हैं जैसी हमारी आशाएं, और आकांक्षाएं, जो शायद ही कभी पूरी होती हैं। यह ऐसे ही था जैसे सपने में कोई अपनी प्रियतमा का मुख देखता हो और आंख खुलने पर गायब हो जाता हो !

: २ :

जब मैं चीन गया था तो मुझे चीनवालों की कारीगरी और बढ़िया दस्तकारी देखकर आश्चर्य हुआ था। भारत भी मुद्दत से अपने दस्तकारों और कारीगरों के लिए मशहूर रहा है; लेकिन मुझे लगा कि चीन भारत से बाजी मार ले गया है। जब मैं काश्मीर आया तो मुझे महसूस हुआ कि यहां की दस्तकारी चीन का मुकाबला कर सकती है। काश्मीर के कारीगर अपनी कुशल उंगलियों से कितनी सुंदर चीजें बनाते हैं ! उनके छूने और देखने तक में आनंद आता था।

सैकड़ों साल से काश्मीर अपने दुशालों के लिए प्रसिद्ध रहा है; लेकिन इतनी शोहरत के बावजूद दुशालों की दस्तकारी गिरती जा रही थी और पश्चिम के कारखानों में बनी हुई घटिया चीजों ने उनकी जगह ले ली थी। काश्मीर की और भी कई दस्तकारियों का यही हाल हो गया था। इन चीजों का व्यापार

केवल सैर-सपाटा करनेवालों तक ही सीमित हो गया था, लेकिन भारत के अमीर लोग काश्मीर की बनी हुई कलापूर्ण चीजों की बजाय प्रायः विदेशी चीजों को ही पसंद करते थे।

बीस वर्ष पहले जब भारत के राष्ट्रीय आंदोलन ने पलटा खाया तो इसका असर गहरा पड़ा। हाथ की बनी हुई चीजों पर आग्रह रखने से हमने इन दस्तकारियों को नया जीवन दिया और कई दस्तकारियों को खत्म होने से बचा लिया। इस आंदोलन का असर काश्मीर पर भी पड़ा और धीरे-धीरे यहां की बनी हुई चीजों की खपत भारत में होने लगी। अखिल भारत-चर्खा-संघ ने इस काम में सबसे अधिक हिस्सा लिया और काश्मीर-शाखा से भारत में सैकड़ों बिक्री-केंद्रों को माल जाने लगा। इतना होने पर भी गति इतनी तीव्र नहीं रही, जितनी होनी चाहिए थी। दस्तकारियों के बढ़ने से बहुत-से बेरोजगार कारीगरों को काम मिल गया और यह खुशहाली की निशानी है।

लेकिन मजदूरी बहुत कम है। काम जितना बढ़िया किया जाता है उसके मुकाबले में मजदूरी को देखते शर्म आती है। भारत के अन्य भागों की अपेक्षा काश्मीर में भेद-वैचित्र्य अधिक है। इस प्रदेश में जहां एक तरफ प्रकृति के सौंदर्य और प्राकृतिक देन की बहुलता है, वहां नितांत गरीबी का राज्य भी है और पेट भर खाने के लिए लोग बराबर संघर्ष करते रहते हैं। काश्मीर के स्त्री-पुरुष देखने में सुंदर और बात-चीत करने में प्यारे लगते हैं। वे होशियार और अच्छे दस्तकार भी हैं। उनकी भूमि उपजाऊ और सुंदर है। फिर भी उनमें इतनी भयानक गरीबी क्यों है?

जब-जब मैं काश्मीर के सौंदर्य की आनंदमयी कल्पना में

डूबता था, मुझे यहां की गरीबी का चित्र बार-बार चोट पहुंचाता था। मुझे आश्चर्य होता था कि जब यहां प्रकृति इतनी दयालु है तो यहां के लोग इतने गरीब क्यों हैं? मैं नहीं जानता था कि काश्मीर में कौन-कौन से खनिज पदार्थ या अन्य प्राकृतिक साधन हैं। मैं सोचता हूं कि वैसे पदार्थ या साधन इस देश में बहुत हैं और पहला काम यह होना चाहिए कि इन साधनों का निरीक्षण किया जाय।

लेकिन अगर यह भी मान लिया जाय कि अतिरिक्त साधन यहां नहीं हैं तो भी वर्तमान साधन लोगों के जीवन-माप को ऊंचा उठाने के लिए काफी हैं, बशर्तेकि इन साधनों को व्यवस्थित और संगठित आधार पर काम में लाया जाय। यहां बहुत-सी ऐसी सस्ती चीजें मिलती हैं जिनसे छोटे-बड़े बहुत-से उद्योग-धंधे चलाये जा सकते हैं। ग्रामोद्योग और दस्तकारियों को बढ़ाने के लिए यहां पर्याप्त क्षेत्र है। फिर सैर-सपाटे के लिए काफी लोग यहां आते-जाते रहते हैं, जिसके लिए काश्मीर एक आदर्श जगह है। यह भारत की ही नहीं, अपितु एशियाभर की क्रीड़ा-स्थली बनने योग्य है।

मैं खुद तो यह पसंद नहीं करता कि कोई देश सैर-सपाटे के लिए आने-जानेवाले लोगों पर अवलंबित रहे। यह परावलंबन अच्छा नहीं है और बाहरी कारण इसे अकस्मात् खत्म कर दे सकते हैं; लेकिन कोई वजह मालूम नहीं देती कि चारों ओर से उन्नति करने की योजना के अंग के रूप में लोगों के आने-जाने को भी तरक्की क्यों न दी जाय? इस समय यहां एक भ्रमणार्थी विभाग है सही, लेकिन इसकी कार्रवाइयां मर्यादित और सहकारी तरीके की-सी मालूम होती हैं। मुझे काश्मीर का परिचय

करानेवाली पुस्तकें भी नहीं मिल सकीं। काश्मीर के रास्तों के कुछ विवरण मिलते हैं; लेकिन वे इतने भद्दे हैं और गंदे छपे हैं कि उन्हें देखने को भी जी नहीं करता। इस वक्त भी शायद वही किताबें चलती हैं जो एक पीढ़ी पहले की लिखी हुई हैं। भ्रमणार्थी विभाग को सबसे पहले घाटियों के ऊपर या इधर-उधर आने-जाने के रास्तों के बारे में पूरी जानकारी देनेवाली सस्ती पुस्तकें निकालनी चाहिए।

काश्मीर उन 'होस्टलों' के लिए आदर्श स्थान है, जो कि समस्त यूरोप व अमरीका में फैले हुए हैं। सारे काश्मीर में ये होस्टल फैल जाने चाहिए। नौजवान लड़कों और लड़कियों को पहाड़ों और घाटियों में घूमने-फिरने और इस प्रकार इस प्रदेश के बारे में अच्छी जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।

मैंने सस्ती चीजों का ऊपर जिक्र किया है। जब मैं जेहलम की घाटी में गया तो वहां पानी से पैदा हुई बिजली का कारखाना देखा। आज से बीस वर्ष पहले उसकी जो हालत थी, वही आज भी है। इसमें कोई फर्क नहीं आया। बहुत-सी बिजली का ठीक उपयोग नहीं किया जा रहा था। बहुत-सी शक्ति, जो पैदा की जा सकती थी, पैदा नहीं की जा रही थी। इन बातों से मैंने अंदाजा लगाया कि काश्मीर अप्रगतिशील है।

काश्मीर जैसे-का-तैसा है। श्रीनगर का शहर पहले की अपेक्षा अब कुछ बढ़ गया है और उसकी बाहरी सीमाओं पर कुछ ज्यादा मकान खड़े हो गए हैं। डल झील के किनारे पर भी नई सैरगाह बन गई है। महाराजा नए महल खड़े करने के शौकीन हैं। उनका नया महल, जो काफी बड़ा है, साफ-सुथरा

और आकर्षक नजर आता था। राजा-महाराजाओं के महलों की भांति वह ज्यादा भड़कीला या खर्चीला नहीं है। लेकिन दो-चार सैरगाह या महल खड़े होने से किसी शहर या देश में कोई खास फर्क नहीं पड़ता। इन छोटे-मोटे परिवर्तनों के अलावा श्रीनगर में और कोई खास तब्दीली नहीं दिखाई दी।

मेरी इच्छा है कि श्रीनगर को नए सिरे से बनाने और आयोजित करने का काम कोई बहुत बड़ा कारीगर अपने हाथ में ले ले। सबसे पहले दरिया के किनारों पर ध्यान देना चाहिए, फिर तंग गलियां और गरीबों के मकान हटाकर खुले हुए हवादार मकान और चौक बनाने चाहिए, गंदा पानी निकालने की नालियों की ठीक व्यवस्था हो। बहुत-से ऐसे सुधार किए जायं जिनसे श्रीनगर आदर्श सुंदर शहर बन जाय, जिसमें वितस्ता और अनेक नहरें मस्ती से बहती हों, जिनपर शिकारे चलते हों और हाउस-बोट किनारों के पास खड़े हों। यह कोई खाली तस्वीर नहीं है, क्योंकि यहां सौंदर्य का जादू तो पहले ही से मौजूद है, लेकिन दुर्भाग्य से मनुष्य ने अपनी करतूत से इस सुंदरता पर पर्दा डाल दिया है। इस गंदगी के नीचे दबी हुई सुंदरता जहां-तहां अब भी अपना स्वरूप दिखाती है।

लेकिन अगर इस योजना को हाथ में लेना है तो कुछ धनिकों के लिए महल बनाना बंद करना पड़ेगा और राज्य के साधनों को इस बड़े काम में जुटाना पड़ेगा। कोई आयोजना उस वक्त तक पूरी नहीं हो सकती जबतक ऐसे निहित स्वार्थ मौजूद हैं, जिन पर राज्य का बहुत-सा धन स्वाहा हो जाता है और जनता की उन्नति के काम में बाधा पड़ती है। साथ ही यह काम उस वक्त तक भी आगे नहीं बढ़ सकता जबतक कि जन-साधारण का

रहन-सहन इतना गिरा हुआ हो, गरीबी उन्हें तबाह करती हो और कुरूढ़ियां उनकी तरक्की के रास्ते में रुकावट डालती हों। अगर हमें अपने सामने ही कुछ तरक्की कर लेनी है तो हमें दूसरे ही ढंग से विचार करके तेजी से काम करना होगा।

वैसे तो काश्मीर ने कोई तरक्की नहीं की, लेकिन एक तब्दीली मुझे बहुत पसंद आई। वह यह कि सरकारी स्कूलों में बुनियादी तालीम जारी कर दी गई है। मैंने कुछ स्कूलों को देखा जहां बच्चे खुशी-खुशी खेल में और काम में जुटे हुए थे। हमारे सारे प्रयत्न और संघर्ष इन्हीं बच्चों की खातिर हैं और यह खुशी की बात है कि उनमें से कुछ जीवन की ठीक शिक्षा हासिल कर रहे हैं और शुरू की उमर से ही अपने व्यक्तित्व का विकास कर रहे हैं और दिमाग व हाथों को काम का आदी बना रहे हैं।

मैं काश्मीर में जहां-जहां गया स्त्रियों ने मेरा भाई या बेटे के रूप में स्वागत किया। उनकी आंखों में प्रेम देखकर मेरा हृदय गद्गद् हो जाता था। मटन में एक वृद्ध काश्मीरी स्त्री ने मुझे आशीर्वाद दिया और जैसे मां बेटे का मस्तक चूमती है, उसने भी मेरा मस्तक चूमा।

हमने श्रीनगर में साढ़े तीन दिन गुजारे और फिर ऊपर घाटियों में एक सप्ताह आराम किया। श्रीनगर के आस-पास की जगह इतनी रमणीक है कि मैं वहां बहुत दिनों तक ठहर सकता था, लेकिन मुझे तो पहाड़ों, चट्टानों के तंग रास्ते और ग्लेशियर देखने की तीव्र लालसा थी। मैं चाहता था कि अपने दिमाग में ज्यादा-से-ज्यादा अनुभव और भावनाओं का संग्रह करूं ताकि फुरसत के समय याद करके इनके चित्र फिर सामने

खड़े करके आनंद ले सकूं; लेकिन श्रीनगर में इतनी मुलाकातें और सभाएं हुईं कि जिंदगी का पुराना ढर्रा-सा ही चलता रहा। हम वेरीनाग, अच्छवल, अनंतनाग (इस्लामावाद) और मटन (मार्तण्ड) आदि स्थानों पर गए। मौसम अच्छा नहीं था। वर्षा के होते हुए भी वहुत-से लोग हमारा स्वागत करने के लिए जमा हो जाते थे और प्रायः वर्षा में ही उन्हें दो-चार शव्द मुझे कहने पड़ते थे। जव मैं शाम को पहलगाम पहुंचा तो थककर चूर हो गया था और भीग गया था। पिछली वार कई वर्ष पहले जव मैंने पहलगाम देखा उस वक्त से अव यह वहुत वढ़ गया था और केवल एक पड़ाव जैसा नहीं रह गया था।

अगले दिन हम फिर वर्षा में भीगते हुए अमरनाथ सड़क पर चंदनवाड़ी गए। कुछ दूर घोड़े पर और कुछ दूर पैदल चले। हमारे कई साथियों को वर्षा के कारण यह सफर अच्छा नहीं लगा और वे थके हुए और परेशान लौटे; लेकिन मुझे मुंह पर वर्षा के थपेड़ों से वड़ा आनंद मिला और उस पहाड़ी नाले का दृश्य, जिसके साथ-साथ हम चल रहे थे, वड़ा रोचक प्रतीत हुआ। अपनी तमाम पार्टी को चंदनवाड़ी में छोड़कर मैं एक मित्र के साथ कुछ मील ऊपर तक गया। मुझे इस वात का दुःख हुआ कि समय की कमी के कारण हम लोग, शेषनाग की सुंदर झील तक, जो कि अमरनाथ के रास्ते में अगला पड़ाव है, नहीं पहुंच सके।

हम उसी रोज चंदनवाड़ी से पहलगाम वापस लौट आए और अगले दिन सवेरे ही हमारा काफिला लिद्दर नदी के किनारे-किनारे लिदरवट की तरफ वढ़ा। ठहरने के लिए आरू एक वड़ी रमणीक जगह है। कुछ देर वहां ठहरकर हम लोग आगे लिदर-

वट की ओर बढ़े। मौसम साफ होगया था और हम आसमान की तरफ आशाभरी निगाहों से और बेकरारी से देखते थे, क्योंकि अगले रोज हमें कोलहाई ग्लेशियर पहुंचना था।

यह अच्छा हुआ कि आज का दिन खुला रहा; क्योंकि रास्ता बड़ा खराब था और पहाड़ी टीलों में से और पहाड़ी नदी-नालों में से गुजर कर जाता था। आखिरकार हम ग्लेशियर पर पहुंच गए और दोपहर का खाना वहीं खाया। गढ़ों और दरारों से बचकर हम कुछ दूर तक ऊपर चढ़े, पर ज्यादा दूर नहीं जा सके और न बहुत देर तक ठहर ही सके; क्योंकि हमें जल्दी ही वापस लिदरवट पहुंचना था। लेकिन ग्लेशियर की इस थोड़ी देर की यात्रा ने ही मुझे बड़ा खुश कर दिया और मेरी एक पुरानी इच्छा पूरी होगई।

लौटते समय हम बहुत थक गए थे और बहुत रात गए अपने स्थान पर पहुंचे। बादशाह खान विशेष रूप से थक गये थे; क्योंकि वह ज्यादातर पैदल ही चलते थे, जबकि और लोग यथासंभव घोड़ों पर चलते थे; लेकिन वह थके हों या न हों, उनका कदम कभी धीमा नहीं पड़ा और हममें से जो लोग उनके साथ चलना चाहते थे वे हांप उठते थे और उनसे पीछे रह जाते थे। इन पहाड़ी रास्तों में चलते हुए एक छः फुट दो इंच लंबे पठान की छाप मेरे मन पर बड़ी गहरी पड़ी और खानसाहब का वही चित्र मेरी आंखों के सामने बार-बार आया करता है।

कोलहाई ग्लेशियर की यात्रा में बहुत-सी छोटी-मोटी घटनाएं हुईं। हमारी पार्टी में से करीब हरेक घोड़े पर से नीचे गिरा या वैसे ही पत्थरों पर ठोकर खा गया या ग्लेशियर पर लुढ़क गया; लेकिन मैं ही ऐसा खुशकिस्मत था जो एक बार भी नहीं

गिरा।

अगले दिन हमने लिदरवट में आराम करने का तय किया; लेकिन पूरी तरह आराम न कर सके, क्योंकि हम उस रास्ते पर घूमने निकल गये, जो कि पहाड़ों में से गुजरकर 'सिंध घाटी' तक पहुंचता है। मैं इसी रास्ते से जाना चाहता था; क्योंकि इस रास्ते पर सोनमर्ग की बहुत सुंदर घाटी आती है। लेकिन वहांतक पहुंचने के लिए बहुत ऊंचे दर्रे से गुजरना पड़ता है, जो उस मौसम में बहुत मुश्किल काम था। हमारी पार्टी बहुत बड़ी थी और हमारे पास समय भी बहुत कम था। इस दर्रे का नाम यमहेर है, अर्थात् यम की सीढ़ी। इसपर इतनी चिकनी बर्फ पड़ी रहती है कि उसपर फिसलने से आदमी जल्दी ही यमलोक पहुंच जाता है।

इसलिए हमने 'सिंध घाटी' तक पहुंचने का इरादा छोड़ दिया, लेकिन कुछ दूर तक गए और गूजरों की कुछ बस्तियों को देखा। ये गूजर लोग खानाबदोश होते हैं, जो गर्मियों के दिनों में अपने पशुओं को चराने के लिए इतने ऊपर चले आते हैं ये लोग अपने लिए अस्थायी आश्रय बना लेते हैं, जिनमें न बारिश रुकती है न ठंडी हवा। कभी-कभी ये लोग बाहर को निकली चट्टानों के नीचे रहकर ही गुजारा कर लेते हैं।

गर्मी के दिनों में गूजरों के पीछे-पीछे एक और जाति के लोग, जिन्हें भेड़वाला कहते हैं, अपना रेवड़ लेकर आ जाते हैं, जिसकी वजह से गूजरों को अपने पशु चराने के लिए और ऊपर चढ़ना पड़ता है। तमाम घाटी और पहाड़ में भेड़ें-ही-भेड़ें नजर आने लगती हैं और आखिर गूजरों को ग्लेशियर के पास तक पहुंचना पड़ता है। गर्मी के बीतने पर वहां से वे वापस नीचे

घाटी में लौट आते हैं। जिस समय हम लिदरवट से वापस आ रहे थे, हमने भेडों के रेवड़ को चरागाह की तलाश में ऊपर जाते हुए देखा।

गूजरों के कैंपों में हम लोग गए। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हमारा सब जगह स्वागत किया गया। आम तौर पर ये लोग अपरिचित लोगों से अच्छी तरह पेश नहीं आते; क्योंकि इनकी निगाह में अजनबी या शहर का रहनेवाला इनका शोपण करनेवाला ही होता है। वह इनसे दूध की बनी हुई चीजें बहुत सस्ती खरीद लेता है और शहर की बनी हुई चीजें बहुत मंहगी बेचता है, और इस तरह यह हमेशा उसके कर्ज में दबा रहता है। ये लोग सीधे-सादे होते हैं। न लिखना जानते हैं, न पढ़ना और न हिसाब करना। शहर से आने वाले लोग जो दाम उनको देते हैं वे उनको गिन भी नहीं सकते। उनके साथ हमेशा धोखा होता है और उनका हमेशा शोषण होता रहता है, जिससे वे बहुत गरीबी में रहते हैं।

लेकिन हमारा स्वागत शायद इसलिए हुआ कि शेख अब्दुल्ला हमारे साथ थे और इन लोगों ने उनका नाम सुन रखा था। शायद इसलिए भी कि हमारी शोहरत वहां पहले से ही पहुंच गई थी। हम लोगों ने एक कैंप में जो ३० × २० फुट का था, जाकर पूछा कि उसके अंदर कितने आदमी रहते हैं। लेकिन इसका भी जवाब कोई नहीं दे सका; क्योंकि शायद वे इतना तक भी गिनना नहीं जानते थे या गिनने की उन्हें कभी परवा ही नहीं हुई थी। फिर हमने उनसे और ढंग से बातें पूछी कि वहां कितने परिवार रहते हैं? वहां कोई छः या सात परिवार थे। हमने हर परिवार के मुखिया से उसकी स्त्री और बच्चों के

बारे में पूछताछ की। उस एक कैंप में करीब ५३ या ५४ आदमी थे। यह कैंप कुछ बड़ा था। इसके अलावा और जिन कैंपों में हम गए वे छोटे थे।

हमने इन लोगों से बात-चीत की। इन्होंने मिली-जुली हिंदुस्तानी और पंजाबी में उत्तर दिए। वे लोग काश्मीरी नहीं थे और न काश्मीरी भाषा जानते थे। उन्होंने अपनी मुसीबतों और गरीबी का हमसे जिक्र किया। हमें रोटी खाने के लिए निमं-त्रण दिया। उनकी रोटी इतनी मजेदार थी कि शायद मैंने आज तक कभी नहीं खाई। मक्की की रोटी और उसके साथ कुछ हरा साग।

मैं नहीं कह सकता कि गूजर लोग कहां से आये हैं और किस जाति से संबंध रखते हैं। ये लोग देखने में बहुत सुंदर नजर आते हैं और इनकी स्त्रियों के चेहरे की बनावट बहुत आकर्षक और साफ है। उनके बच्चे भी बहुत प्यारे लगते हैं। बादशाह खान बच्चों को इकट्ठा करके उनके साथ खेलते थे, क्योंकि उन्हें गरीबों के बच्चों से बड़ा प्रेम है। मुझे याद आया कि ये सीमाप्रांत में किस तरह पठानों के बच्चों के पास खड़े हो जाते थे। बच्चों को देखकर उनका चेहरा प्रेम से दमक उठता था और बच्चे भी अपने दोस्त बादशाह और नेता खान की बड़ी इज्जत करते थे।

इन गूजरों की स्त्रियां बिना किसी झिझक या शर्म के पुरुषों की तरफ देखती थीं। एक कैंप में तो कुछ आश्चर्य भी हुआ जब कि एक स्त्री ने आकर मेरा हाथ पकड़कर स्वागत किया। उसने हमें रोटी और सब्जी, जो वह पका रही थी, खाने के लिए निमं-त्रण दिया। उसका वह ढंग और व्यवहार इतना अच्छा था कि

मुझे लगा जैसे किसी ऊंचे घराने की स्त्री मुझे बुला रही है।

गूजरों के पड़ाव में जाने से हमारे अपने कैंप में एक छोटी-सी घटना हो गई। बादशाह खान की यह आदत थी कि वह अपनी जेबें फल और मिठाइयों से भर कर चलते थे, जिसे वह गरीब बच्चों को, जो सड़क पर मिलते थे, बांट देते थे; लेकिन इत्तिफाक से उनका स्टाक खत्म हो गया और गूजरों के कैंप में बीसियों बच्चे जमा हो गए। इसलिए उन्होंने बच्चों को हमारे कैंप में आने के लिए कहा।

वापस लौटने पर बादशाह खान ने कैंप के रसोइए को बुलाया और तमाम खाने की चीजें, खासकर चावल, आटा और चीनी, लाने के लिए कहा; लेकिन रसोइए की उतनी दिलचस्पी नहीं थी। इसलिए वह थोड़ी-सी चीजें लेकर चला आया। परंतु बादशाह खान कब माननेवाले थे! उन्होंने और लाने के लिए ज़िद की। रसोइए ने कहा कि हमारी बहुत बड़ी पार्टी है और सबको दो रोज तक खाने के लिए देना है, इसलिए वह अपना स्टाक, जो थोड़ा-सा है, खाली नहीं कर सकता। लेकिन बादशाह खान अपनी बात पर अड़े रहे। बोले कि हमारी पार्टी के लोग बहुत ज्यादा खाते हैं—और यह बात सही भी थी—इसलिए यदि लोगों को थोड़ा भी खाना पड़े या एक दिन का उपवास करना पड़े तो अच्छा ही है। तब उन्हें कैसे इंकार किया जा सकता था? इसलिए रसोइए को और ज्यादा रसद देनी पड़ी।

अगले रोज हम लिदरवट से पहलगाम वापस पहुंच गए। हम चार-पांच रोज से बाहर की दुनिया से बिल्कुल अलग-से हो गए थे। इसलिए हमें कोई बाहर की खबर ही नहीं मिली, जब कि उसी समय उत्तर फ्रांस की लड़ाई में महत्वपूर्ण निर्णय किए

जा रहे थे। हमें पहलगाम में कुछ देरी से खबरें मिली और हमने महसूस किया कि हालत कितनी गंभीर हो गई है।

पहलगाम में रात भर ठहरकर हम श्रीनगर मोटर में पहुंचे। रात में हमने मार्तंड का पुराना मंदिर देखा, जिसके अंदर स्थानीय मित्रों ने शानदार जलपान का इंतजाम कर रखा था। वहां से अनंतनाग या इस्लामाबाद गए, जहां एक या दो सभाएं हुई। एक सभा विजविहार के विशाल चिनार वृक्षों के नीचे हुई। जिस मंच पर खड़े होकर मुझे भाषण देना था वह बहुत पुराने और शाही पेड़ के नीचे था, जिसकी गोलाई कोई ५५ फुट होगी। लोगों का कहना था कि यह पेड़ ४०० साल पुराना है। जब मैं इस पेड़ की ठंडी छाया में खड़ा था तो मेरी आंखों के सामने पिछले ४०० सालों का इतिहास तेजी से घूम गया। इस लंबे अर्से में इस पेड़ ने न जाने कैसी-कैसी विचित्र घटनाएं, क्रांतियां और आदमी की मूर्खताएं देखी हैं। जब कि लोग सुख-दुख भरा अपना छोटा-सा जीवन पूरा करके चले गए और एक के बाद दूसरी पीढ़ी आती रही, यह पेड़ों का राजा चुपचाप खड़ा हुआ लोगों का तमाशा देखता रहा।

हम फिर श्रीनगर वापस आगए। अपना-अपना सामान बांधना शुरू किया और एक दूसरे से विदाई लेने लगे। अमरसिंह-क्लब में एक पार्टी में शामिल हुए, जहां बहुत-से पुराने मित्र मिले। अंत में एक सभा श्रीनगर में हुई, जिसमें सबसे विदाई ली।

अगले रोज सुबह हम श्रीनगर से जम्मू की ओर चल पड़े। यह सड़क घाटी को छोड़कर पीरपंचाल की ओर जा रही थी। ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ते गए, वहां का विशाल दृश्य हमारी

आंखों के सामने आता गया। जब हम सुरंग के नजदीक पहुंचे तो नीचे की घाटी की ओर अंतिम बार निगाह डाली। वह काश्मीर की घाटी थी, जो दुनियां में सबसे बढ़कर सुंदर मानी जाती है और इतिहास और काव्य में जिसका नाम आता है। उसके कुछ हिस्से पर हल्का-सा कुहरा छाया था और हल्की रोशनी के आने से सारा दृश्य बड़ा अच्छा लगता था। बादलों से ऊपर बर्फ से ढकी पहाड़ों की चोटियां नजर आती थीं और नीचे घाटी में से जल-प्रवाह की धीमी-धीमी आवाज आ रही थी। हमने मन-ही-मन उससे विदा ली और दुःखी दिल से अंधेरी सुरंग में दाखिल हो गए, जो हमें उतने सुंदर दृश्यों की ओर नहीं लेजा रही थी।

रात को हम जम्मू सड़क पर कुद में ठहरे और वहां कुछ मित्रों से मिले। अगले रोज हम जम्मू पहुंच गए जहां मैदान की-सी गर्मी थी। जम्मू में हमारा खूब स्वागत हुआ, यहांतक कि हम कुछ थक गए; क्योंकि दिन में सूरज बहुत गर्म था। पहले जलूस में शामिल हुए, फिर मुलाकातें कीं और रात को एक सभा हुई। यह सभा एक खुश्क पुराने तालाब में हुई, जिसके इर्द-गिर्द बहुत-सी सीढ़ियां थीं, जिनपर लोग बैठ सकते थे। मुझे यह देखकर बड़ा आनंद हुआ कि इस सभा में हजारों स्त्रियां भी आईं।

बादशाह खान उसी शाम को पेशावर चले गए, लेकिन शेख अब्दुल्ला और कुछ मित्र हमारे साथ लाहौर तक आए।

काश्मीर के बारह दिन ! तेईस साल के बाद बारह दिन ! जीवन का एक प्रभावशाली क्षण भी वर्षों के जड़ जीवन से कहीं अच्छा होता है और काश्मीर में बारह दिन बिताना वास्तव

में वड़ी खुशकिस्मती की वात थी। लेकिन काश्मीर फिर वापस वुलाता है। इसका आकर्षण पहले की निस्वत और भी ज्यादा है। काश्मीर का स्वर्गीय जादूभरा नाद कानों में गूंज रहा है और उसकी याद दिल को सताती है। जो व्यक्ति इसके जादू में फंस गया है, वह उससे कैसे छुटकारा पा सकता है?

: १२ :

लंका में विश्राम

मेरे डाक्टरों ने मुझपर जोर दिया कि मुझे कुछ आराम करना चाहिए और आव-हवा वदलनी चाहिए। मैंने लंका द्वीप में एक महीना गुजारना तय किया। हिंदुस्तान वड़ा भारी देश होने पर भी, इसमें स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली संभावना दिखाई न दी; क्योंकि मैं जहां भी जाता वहां राजनैतिक साथी मिलते ही और वे ही समस्याएं भी मेरे पीछे-पीछे वहां पहुंच जातीं। लंका ही हिंदुस्तान से सवसे नजदीक की जगह थी। इसलिए हम लंका ही गए—कमला, इंदिरा और मैं। १९२७ में यूरोप से लौटने के वाद यही मेरी पहली छुट्टी थी, यही पहला मौका था जव मेरी पत्नी, कन्या और मैंने एकसाथ शांति से कहीं विश्राम किया हो और हमें कोई चिंताएं न रही हों। ऐसा विश्राम फिर नहीं मिला है और मैं सोचता हूं कि शायद मिलेगा भी या नहीं।

फिर भी, दरअसल, हमें लंका में नुवाया एलीया में दो हफ्तों के सिवा ज्यादा विश्राम नहीं मिला। वहां के सभी वर्गों के लोगों ने हमारे प्रति वहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्भावना लगती तो वहुत अच्छी थी,

मगर परेशानी में डाल देती थी। नुवाया एलीया में बहुत-से श्रमिक, चाय-बागों के मजदूर और दूसरे लोग रोज कई मील चलकर आया करते थे और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेंट की चीजें—जंगल के फूल, सब्जियां, घर का मक्खन—भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्रायः बात भी नहीं कर सकते थे, एक-दूसरे की तरफ देख भर लेते थे और मुस्करा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेंट की इन कीमती चीजों से, जो वे अपनी दरिद्रावस्था में भी हमें दे जाते थे, भर गया था। ये चीजें हम वहां के अस्पतालों और अनाथालयों को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीजों और ऐतिहासिक खंडहरों, बौद्ध मठों और घने जंगलों को देखा। अनुराधापुर में मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्ति बहुत पसंद आई। एक साल बाद जब मैं देहरादून-जेल में था तब लंका के एक मित्र ने इस मूर्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मैं अपनी कोठरी में अपनी छोटी-सी मेज पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बड़ा मूल्यवान साथी बन गया था और बुद्ध की मूर्ति के गंभीर शांत भावों से मुझे बड़ी शांति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौके पर बड़ी मदद मिली।

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत हुए हैं। इसका कारण बताना तो मुश्किल है, मगर वह धार्मिक नहीं है, क्योंकि बौद्धधर्म के आस-पास जो मताग्रह जम गये हैं उनमें मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्षित किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बड़ा आकर्षण है।

मैंने मठों में और सड़कों पर बहुत-से 'भिक्षुओं' को देखा,

जिन्हें हर जगह, जहां कहीं वे जाते थे, सम्मान मिलता था। करीब-करीब सभीके चेहरे पर शांति और निश्चलता का तथा दुनिया की फिक्रों से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था। आमतौर पर उनके चेहरे से बुद्धिमता नहीं झलकती थी, उनकी सूरत से दिमाग के अंदर होनेवाला भयंकर संघर्ष नहीं मालूम पड़ता था। जीवन उन्हें महासागर की ओर शांति से बहती हुई नदी के समान दिखाई देता था। मैं उनकी तरफ कुछ ईर्ष्या के साथ, आंधी और तूफान से बचानेवाला शांत बंदरगाह पाने की एक हल्की उत्कंठा के साथ, देखता था। मगर मैं तो जानता था कि मेरी किस्मत में और ही कुछ है। उसमें तो आंधी और तूफान ही हैं। मुझे कोई शांत बंदरगाह मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफान भी उतना ही तेज़ है जितना बाहर का और अगर मुझे कोई ऐसा बंदरगाह मिल भी जाय, जहां इत्तिफाक से आंधी की प्रचंडता न हो तो भी क्या वहां मैं संतोष और सुख से रह सकूंगा ?

कुछ समय के लिए तो वह बंदरगाह खुशनुमा ही था। वहां आदमी पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था और उष्ण-कटिबंध का शांतिप्रद और जीवनदायी आनंद अपने अंदर भर सकता था। लंकाद्वीप उस समय मेरी भी वृत्ति के अनुकूल था और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही खत्म हो गया और हार्दिक दुःख के साथ हम वहां से विदा हुए। उस भूमि की और वहां के लोगों की कई बातें अब भी मुझे याद आया करती हैं; जेल में मेरे लंबे और सूने दिनों में भी यह मीठी स्मृति मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे याद है। वह शायद जाफना के पास हुई

थी। एक स्कूल के शिक्षकों और लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली और अभिवादन के कुछ शब्द कहे। दृढ़ और उत्सुक चेहरे लिये लड़के खड़े रहे और उनमें से एक मेरे पास आया। उसने मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—"मैं कभी लड़खड़ाऊंगा नहीं।" उस लड़के की उन चमकती हुई आंखों की, उस आनंदपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पड़ी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था, उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है, मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा और जब जीवन की विषम समस्याओं का मुकाबला उसे करना होगा तब वह लड़खड़ायेगा नहीं, पीछे नहीं रहेगा।

लंका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अंतरीप के पास दक्षिणी सिरे पर गये। वहां आश्चर्यजनक शांति थी। इसके बाद त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, मैसूर, हैदराबाद में होकर गुजरे जो ज्यादातर देशी रियासतें हैं। इनमें से कुछ दूसरों से बहुत प्रगतिशील हैं, कुछ बहुत पिछड़ी हुई हैं। त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा में ब्रिटिश भारत से भी बहुत आगे बढ़े हुए हैं। मैसूर शायद उद्योग-धंधों में आगे बढ़ा हुआ है और हैदराबाद करीब-करीब पूरी तरह पुराने सामंत-तंत्र का स्मारक है। हमें हर जगह, जनता से भी और अधिकारियों से भी आदर और स्वागत मिला। मगर इस स्वागत में अधिकारियों की यह चिंता भी छिपी हुई थी कि हमारे वहां आने से कहीं लोगों के खयालात खतरनाक न हो जायें। मालूम होता है, उस वक्त मैसूर और त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतंत्रता

और अवसर दिया था। हैदराबाद में इतनी आजादी न थी और हालांकि हमारे साथ आदर का वर्ताव किया जा रहा था फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोटने और सांस रोकने वाला मालूम हुआ। बाद में मैसूर और त्रावणकोर की सरकारों ने उतनी नागरिक स्वतंत्रता और राजनैतिक कार्यों की सुविधा भी छीन ली जो उन्होंने पहले दे रक्खी थी।

मैसूर रियासत के बंगलोर शहर में, एक बड़े मजमे के बीच, मैंने लोहे के एक ऊंचे खंभे पर राष्ट्रीय झंडा फहराया था। मेरे जाने के थोड़े दिनों बाद ही वह खंभा तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया और मैसूर-सरकार ने झंडे का प्रदर्शन जुर्म करार दे दिया। मैंने जिस झंडे को फहराया था उसकी इतनी खराबी और बेइज्जती होने से मुझे बड़ा रंज हुआ।

आज त्रावणकोर में कांग्रेस ही गैरकानूनी संस्था करार दे दी गई है और कांग्रेस का मेंबर भी कोई नहीं बन सकता, हालांकि ब्रिटिश भारत में सविनय-भंग रुक जाने के बाद से वह कानूनी हो गई। इस तरह मैसूर और त्रावणकोर दोनों मामूली शांतिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही हैं और उन्होंने वे सुभीते भी छीन लिये हैं जो पहले दे रक्खे थे। ये रियासतें पीछे हट रही हैं; किंतु हैदराबाद को पीछे जाने या सुविधाएं छीनने की जरूरत ही नहीं महसूस हुई, क्योंकि वह आगे कभी बढ़ी ही न थी और न उसने इस किस्म की कोई सुविधाएं दी थीं। हैदराबाद में राजनैतिक सभाएं नहीं होतीं और सामाजिक और धार्मिक सभाएं भी संदेह की दृष्टि से देखी जाती हैं, उनके लिए भी खास इजाजत लेनी पड़ती है। वहां कोई भी अच्छे अखबार नहीं निकलते और बाहर से बुराई के कीटाणुओं

को न आने देने के लिए हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में छपने-वाले बहुत-से अखबारों की रियासत में रोक कर दी गई है। बाहर के असर से दूर रहने की यह नीति इतनी सख्त है कि नरम नीति के अखबारों को भी वहां मुमानियत है।

कोचीन में हम 'सफेद यहूदी' कहाने वाले लोगों का मुहल्ला देखने गये और उनके पुराने मंदिर में उनकी एक प्रकार की पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत प्राचीन और बहुत अजीब है। इसकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि कोचीन के जिस हिस्से में वे रहते हैं, वह जेरूसलम के समान था। निश्चय ही वह पुरानी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलाबार के किनारे हमने कुछ ऐसे कस्बे देखे जिनमें ज्यादातर सीरियन मत के ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका बहुत कम लोगों को खयाल होगा कि ईसाई-धर्म हिंदुस्तान में ईसा के बाद पहली सदी में ही आ गया था, जबकि यूरोप ने भी उसे नहीं ग्रहण किया था और दक्षिण हिंदुस्तान में खूब मजबूती से जम गया था। हालांकि इन ईसाइयों का बड़ा धर्माध्यक्ष सीरिया के एंटियोक या और किसी कस्बे में है, मगर इनकी ईसाइयत ज्यादातर हिंदुस्तानी चीज ही है और उसका बाहर से ज्यादा ताल्लुक नहीं है।

दक्षिण में नेस्टेरियन मत के लोगों की भी एक बस्ती देख-कर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। उनके पादरी ने मुझे बताया कि उनकी तादाद दस हजार है। मेरा तो यह खयाल था कि ये लोग कभी के दूसरे मतों में मिल चुके होंगे और मुझे यह पता न था कि कभी वे हिंदुस्तान में भी मौजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय हिंदुस्तान में उसके अनुयायी बहुत थे और वे

उत्तर में वनारस तक फैले हुए थे।

हम हैदरावाद खासकर श्रीमती सरोजिनी नायडू और उनकी लड़कियों पद्मजा और लीलामणि से मिलने गये थे। जिन दिनों हम उनके यहां ठहरे हुए थे, एक वार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियां उन्हींके मकान पर इकट्ठी हो गईं और शायद कमला नें उनके सामने भाषण दिया। उसका भाषण संभवतः पुरुषों के बनाये हुए कानूनों और रिवाजों के खिलाफ स्त्रियों के युद्ध के (जो उसका एक खास प्यारा विषय था) वारे में था और उसने स्त्रियों से कहा कि वे पुरुषों से वहुत न नवें। इसके दो या तीन हफ्ते वाद इसका एक वड़ा दिलचस्प नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदरावाद से कमला को खत लिखा कि आपके यहां आने के वाद से मेरी पत्नी का वर्ताव अजीव हो गया है। पहले की तरह वह मेरी वात नहीं सुनती, न मेरी वात मानती है; वल्कि मुझसे वहस करती है और कभी-कभी सख्त रुख भी अख्तियार कर लेती है।

वंवई से लंका को रवाना होने के सात हफ्ते वाद हम फिर वंवई आगये और मैं फौरन ही कांग्रेस की राजनीति के भंवर में कूद पड़ा।

: १३ :

जेल में जीव-जंतु

कोई साढ़े चौदह महीने तक मैं देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी में रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसीका एक हिस्सा हूं। उसके प्रत्येक अंश से परिचित हो गया।

उसकी सफेद दीवारों और खुरदरे फर्श पर हरेक निशान और गड्ढे और उसके शहतीरों पर लगे घुन के छेदों तक से मैं परिचित हो गया था। बाहर के छोटे-से आंगन में उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े मेरे पुराने दोस्त-से लगते थे। मैं अपनी कोठरी में अकेला था, सो बात नहीं? क्योंकि वहां कितने ही ततैयों और वर्रों के छत्ते थे और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती थीं। यदि विचार और भावनाएं भौतिक चीज़ों पर अपने चिन्ह छोड़ सकती हैं तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे जरूर भरा हुआ था और उस संकरी जगह में जो-जो भी चीजें थीं उन सबपर वे अंकित हुए बिना न रहे होंगे।

कोठरियां तो मुझे दूसरे जेलों में इससे अच्छी मिली थीं, मगर देहरादून में मुझे एक विशेप लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशकीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात में रखे गये थे। लेकिन थी यह अहाते में ही। यह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने की कोई जगह न थी और इसलिए सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज तक घूमने की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल के अहाते में ही; लेकिन उन दीवारों के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओं, खेतों और कुछ दूर पर आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे। यह विशेप लाभ ख़ास मुझे अकेले ही को नही मिला था, बल्कि देहरादून के 'ए' क्लास के हरेक कैदी को मिलता था। इसी तरह जेल की दीवार के बाहर लेकिन अहाते के अंदर एक और छोटी इमारत थी, जिसे यूरोपियन हवा-

लात कहते थे। इसके चारों ओर दीवार न थी जिससे कोठरी के अंदर का आदमी पर्वत-श्रेणियों और बाहरी जीवन के सुंदर दृश्य देख सकता था। इसमें जो यूरोपियन कैदी या दूसरे लोग रखे जाते उन्हें भी जेल के फाटक के पास सुबह-शाम घूमने की इजाज़त थी।

केवल एक कैदी ही, जो लंबे अर्से तक ऊंची-ऊंची दीवारों के अंदर कैद रहा हो, बाहर सैर करने और इन मुक्त दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को समझ सकता है। मैं इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नहीं छोड़ा था, जबकि जोर से पानी की झड़ी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी में चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैंने स्वागत किया होता, लेकिन यहां तो अपने पड़ोसी गगनचुंबी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी खुशी को बढ़ानेवाला था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी खुशकिस्मती थी कि जब लंबे अर्से तक मैंने कोई मुलाकात नहीं की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा, तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाड़ों को एक-टक निहार सकता था। अपनी कोठरी से तो मैं गिरिराज के दर्शन नहीं कर सकता था, मगर मेरे मन में सदैव ही उसका ध्यान रहता था और वह हमेशा समीप ही मालूम होता था। जान पड़ता था मानों अंदर-ही-अंदर हम दोनों के बीच एक घनिष्ठता बढ़ रही थी।

> पक्षी-गण ये उड़-उड़ ऊंचे निकल गये हैं कितनी दूर !
> जलद-खंड भी इसी तरह वह नभ-पथ से हो गया विलीन;

एकाकी मैं, सम्मुख मेरे पर्वतशृंग खड़ा है शांत—
मैं उसको, वह मुझे देखता दोनों ही हम थके कभी न।

मैं समझता हूं कि इस कविता के रचयिता कवि ली ताई पो की तरह मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैं पर्वतराज को देखते हुए कभी नहीं थकता था, फिर भी यह एक असाधारण दृश्य था और साधारणतया तो मैं उसकी निकटता से सदा बहुत सुख अनुभव करता था। पर्वतराज की दृढ़ता और स्थिरता मानों लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती थी, मेरे अशांत मन को सांत्वना देती थी।

देहरादून में वसंत ऋतु बड़ी सुहावनी लगी और नीचे के मैदानों की बनिस्वत ज्यादा समय तक रही। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों के पत्ते झाड़ दिये थे और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गये थे: जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड़ थे, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने करीब-करीब सब पत्ते गिरा दिये थे और पत्रविहीन तथा उदास होकर खड़े थे। परंतु अब वसंत-ऋतु आई और उसकी जीवन-दायिनी वायु ने उन्हें अनुप्राणित कर दिया, उनके एक-एक परमाणु को जीवन-संदेश दिया। क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों में, एक हलचल मच गई और उनके आसपास एक रहस्यमय वातावरण छा गया, जैसे परदे के अंदर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही हो, और एक दिन सहसा मैं तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अंकुरों और कोंपलों को उझक-उझककर झांकते हुए देखकर चकित रह गया। वह बड़ा ही उल्लासमय और आनंददायी दृश्य था। फिर बड़ी तेजी के साथ उन पेड़ों में लाखों पत्ते निकल आये और वे सूर्य की किरणों

में चमकने और हवा के साथ अठखेलियां करने लगे। एक अंखुए से लेकर पत्ते तक का यह रूपांतर कितना जल्दी और कितना आश्चर्यजनक होता है।

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्खी लिये गेहुंए रंग के होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे काश्मीर के पहाड़ों पर शरदऋतु में हलके रंग की छाया छा जाती है, लेकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदलकर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहां हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्मकाल की गर्मी का अंत आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज की भी आखिर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानों इंद्र-देवता की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बरसात शुरू होते ही पांच हफ्तों तक ऐसी झड़ी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों से आती हुई बौछार से अपनेको बचाते हुए सिकुड़-मुकुड़कर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता था।

हां, शरद्ऋतु में फिर आनंद उमड़ने लगता है और इसी तरह शिशिर में भी उन दिनों को छोड़कर जबकि मेंह बरसता हो। एक तरफ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ वर्षा हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठंडी हवा बह रही है। ऐसी हालत में हर आदमी को उत्कंठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से बचाव हो सके और जरा आराम मिले। कभी-कभी बरफ का तूफान आता और बड़े-बड़े ओले गिरते और वे टीन की छतों पर गिरते हुए बड़े जोर की आवाज करते, मानों दनादन तोपें छूट रही हों।

एक दिन मुझे खासतौर पर याद है। वह २४ दिसंबर १६३२ का दिन था। बड़े जोर की बिजली कड़क रही थी और दिन-भर पानी बरसता रहा। जाड़ा इतना सख्त कि कुछ मत पूछिए। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े हैं। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गये और जब मैंने देखा कि पर्वतश्रेणियों पर और पहाड़ियों पर बरफ-ही-बरफ जमी हुई है तो मेरा सारा कष्ट न जाने कहां चला गया! दूसरा दिन—बड़ा दिन—बड़ा मनोरम और स्वच्छ था और बरफ के आवरण में पर्वत-श्रेणियां बहुत सुंदर दिखाई देती थीं।

जब साधारण रोजमर्रा के कामों से हम रोक दिये गये तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के दर्शन की ओर ज्यादा गया। जो-जो जीवधारी या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम ध्यान से देखते थे। अधिक ध्यान जाने पर मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और बाहर के छोटे-से आंगन में हर तरह के जीव-जंतु रहते हैं। मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो, जिसे अकेले-पन की शिकायत है और दूसरी ओर उस आंगन को देखो जो खाली या सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमें जीवन उमड़ा पड़ता है। ये तमाम किस्म के रेंगनेवाले, सरकनेवाले और उड़नेवाले जीवधारी मेरे काम में जरा भी दखल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे तो मुझे क्या पड़ी थी कि मैं उनके जीवन में बाधा पहुंचाता? लेकिन हां, खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी। ततैयों और बर्रों को तो मैं सह लेता था। मेरी कोठरी में वे हजारों की तादाद में थे। हां, एक बार उनकी मेरी झड़प हो गई थी, जबकि एक

ततैये ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था। मैंने गुस्सा होकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चंदरोजा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने खूब डटकर सामना किया। छतों में शायद उनके अंडे थे। आखिर मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़ें तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूंगा। कोई एक साल तक उसके बाद मैं उन बरों और ततैयों के बीच रहा। मगर उन्होंने फिर कभी मुझपर हमला नहीं किया और हम दोनों एक-दूसरे का आदर करते रहे।

हां चमगादड़ों को मैं पसंद नहीं करता था; लेकिन उन्हें मैं मन मसोसकर बर्दाश्त करता था। वे संध्या के अंधकार में चुपचाप उड़ जाते और आसमान की अंधेरी नीलिमा में उड़ते दिखाई पड़ते। वे बड़े मनहूस जीव लगते थे और मुझे उनसे बड़ी नफरत और कुछ भय-सा मालूम होता था। वे मेरे चेहरे के एक इंच दूरी से उड़ते और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दें।

मैं चींटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घंटों देखता रहता था और छिपकलियों को भी। वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड़ लेतीं और अपनी दुम एक अजीब, हँसी आने लायक, ढंग से हिलाती हुई एक-दूसरे को लपेटतीं। मामूली तौर पर वे ततैयों को नहीं पकड़ती थीं; लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और सावधानी से मुँह की तरफ से उनको चुपके से झपटकर पकड़ा। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक दैवयोग था।

इसके बाद अगर कहीं आसपास पेड़ हों तो झुंड-की-झुंड

गिलहरियां होती थीं। वे बहुत ढीठ और निःशंक होकर हमारे बहुत पास आ जातीं। लखनऊ-जेल में मैं बहुत देर तक एक आसन बैठे-बैठे पढ़ा करता था। कभी-कभी कोई गिलहरी मेरे पैर पर चढ़कर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारों तरफ देखती। फिर वह मेरी आंखों की ओर देखती तब समझती कि मैं पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो वह नहीं हूं। एक क्षण के लिए तो वह सहम जाती फिर, दुबककर भाग जाती। कभी-कभी गिलहरियों के बच्चे पेड़ से नीचे गिर पड़ते। उनकी मां उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको लेजाकर सुरक्षित जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हे-नन्हे थे कि यह एक समस्या हो गई थी कि उन्हें दाना कैसे दें? लेकिन यह सवाल बड़ी तरकीब से हल किया गया। फाउंटेनपेन के फिलर में जरा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढ़िया 'फीडिंग बोतल' हो गई।

अलमोड़ा की पहाड़ी जेल को छोड़कर, और सब जेलों में जहां-जहां मैं गया कबूतर खूब मिले और हजारों की तादाद में वे शाम को उड़कर आकाश में छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हां, मैनाएं भी थीं। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाजे के ऊपर ही अपना घोंसला बनाया था। मैं उन्हें दाना दिया करता। वे बहुत पालतू हो गई थीं और जब-कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नजदीक आकर बैठ जातीं और जोर-जोर से चीं-चीं करके खाना मांगतीं। उनके वे इशारे और उनकी वह

अधीर पुकार देखते और सुनते ही बनती थी।

नैनी में हजारों तोते थे। उनमें से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारों में रहते थे। उनकी प्रणय-लीला आकर्षक वस्तु होती थी। वह देखनेवालों को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतों में एक तोती के लिए जोर की लड़ाई होती। तोती शांति के साथ उनके झगड़े के नतीजे का इंतजार करती और विजेता पर अपनी प्रणयवृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके कलरव, जोर-जोर से चिंचियाने, चहचहाने और टें-टें करने से एक अजीब समा बंध जाता था। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्द-भरी कूक का तो पूछना ही क्या! बारिश में और उसके ठीक पहले पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' की रटन सुनकर दंग रह जाना पड़ता था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे मेंह, उसकी रटन नहीं टूटती थी। इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे, सिर्फ उनकी आवाज सुनाई पड़ती थी; क्योंकि हमारे छोटे-से आंगन में कोई पेड़ नहीं था। लेकिन गिद्ध और चीलें बड़ी धज के साथ आसमान में ऊंची उड़ती और उन्हें मैं देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आतीं और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जातीं। कभी-कभी जंगली बतख भी हमारे सिर पर मंडराया करते थे।

बरेली-जेल में बंदरों की आबादी खासी थी। उनकी कूद-फांद, मुंह बनाना आदि हरकतें देखने लायक होती थीं। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बंदर का बच्चा

किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अंदर आगया। वह दीवार की ऊंचाई तक उछल नहीं सकता था। वार्डर, कुछ नंबरदारों और दूसरे कैदियों ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बांध दी। दीवार पर से उसके (मैं समझता हूं) मां-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गये। अचानक उनमें एक बड़ा बंदर नीचे कूदा और सीधा भीड़ में उस जगह गिरा जहां कि वह बच्चा था। निस्संदेह यह बड़ी बहादुरी का काम था, क्योंकि वार्डर वगैरह सबके पास डंडे और लाठियां थीं और वे उन्हें चारों तरफ घुमा रहे थे। उनकी संख्या भी काफी थी; लेकिन साहस की विजय हुई और मनुष्यों की वह भीड़ मारे डर के भाग निकली। उनके डंडे और लाठियां वहीं पड़ी रह गईं और बंदर अपना बच्चा छुड़ा ले गया।

अक्सर ऐसे जीव-जंतु भी दर्शन देते थे, जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियों में बहुत आया-जाया करते थे। खासकर तब, जब बिजली जोरों से कड़का करती। ताज्जुब है कि मुझे किसीने भी नहीं काटा; क्योंकि वे अक्सर बेढब जगह मिल जाया करते थे—मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई उसपर भी। मैंने खासतौर पर एक काले और जहरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल में रख छोड़ा था और मक्खियां वगैरह उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक डोर से बांधकर दीवार से लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला। मुझे यह ख्वाहिश नहीं थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय। इसलिए मैंने अपनी कोठरी को खूब साफ किया और चारों ओर उसे ढूंढ़ा, मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार सांप भी मेरी कोठरी में या उसके आस-पास निकले थे। एक की खबर जेल के वाहर चली गई और अखबारों में मोटी-मोटी लाइनों में छापी गई। मगर सच पूछिये तो मैंने उस घटना को पसंद किया था। जेल-जीवन योंही काफी रूखा और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसकी नीरसता को कोई चीज भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं सांपों को अच्छा समझता हूं या उनका स्वागत करता हूं। मगर हां, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता। वेशक, उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी सांप को देखूं तो उससे अपनेको बचाऊं भी, लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नहीं होती और न उनसे डरकर भागता ही हूं। हां, कनखजूरे से मुझे बहुत नफरत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं मगर उसे देखकर स्वाभाविक नफरत होती है। कलकत्ते के अलीपुर-जेल में कोई आधी रात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज मेरे पांव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दवाई तो क्या देखा कि एक कनखजूरा विस्तर पर है। एकाएक और वड़ी तेजी से विना आगा-पीछा सोचे मैंने विस्तर से ऐसे जोर की छलांग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते-टकराते वचा। उस समय मैंने अच्छी तरह जाना कि रूस के प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफ्लेक्सेस'—स्वयं—स्फूर्त क्रियाएं क्या होती हैं।

देहरादून में एक नया जंतु देखा, या यों कहूं कि ऐसा जंतु देखा जो मेरे लिए अपरिचित था। मैं जेल के फाटक पर खड़ा हुआ जेलर से बातचीत कर रहा था कि इतने में वाहर से एक आदमी आया जो एक अजीव जंतु लिये हुए था। जेलर ने उसे

वुलवाया। मैंने देखा कि वह एक गोह और मगर के वीच का कोई जानवर है, जो दो फुट लंवा था। उसके पंजे थे और छिलकेदार चमड़ी। वह भद्दा और कुडौल था और वहुत-कुछ जीवित था। वह एक अजीव तरह से कुंडलाकार वना हुआ था और लानेवाला उसे एक वांस में पिरोकर वड़ी खुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'वो' कहता था। जव जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या करोगे तो उसने जोर से हँसकर कहा—भुज्जी—सालन—वनायंगे। वह जंगली आदमी था। वाद को एफ० डव्ल्यू० चेंपियन की 'दि जंगल इन सनलाइट ऐण्ड शैडो' (धूप-छांह में जंगल) पढ़ने से मुझे पता लगा कि वह पेंगोलिन था।

कैदियों की, खासकर लंवी सजावाले कैदियों की, भावनाओं को जेल में कोई भोजन नहीं मिलता। कभी-कभी वे जानवरों को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली कैदी कोई जानवर नहीं रख सकता। नंवरदारों को उनसे ज्यादा आजादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए एतराज नहीं करते। आमतौर पर वे गिलहरियां पालते हैं और सुनकर ताज्जुव होगा कि नेवले भी। कुत्ते जेल में नहीं आने दिये जाते, मगर विल्ली को, जान पड़ता है, उत्साहित किया जाता है। एक छोटी पूसी ने मुझसे दोस्ती कर ली थी। वह एक जेल-अफसर की थी। जव उसका तवादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव खलता रहा। हालांकि जेल में कुत्तों को इजाजत नहीं है, लेकिन देहरादून में इत्तफाक से कुत्तों के साथ भी मेरा नाता हो गया था। एक जेल-अफसर एक कुतिया लाये थे। वाद को उनका तवादला होगया और उसे वहीं छोड़ गये। वेचारी वे-घर की होकर इधर-उधर

घूमती रही और पुलों और मोरियों में रहती हुई वार्डरों के दिये टुकड़े खाकर अपने दिन काटती थी। वह प्रायः भूखों मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती थी। मैं उसे रोज खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गये मगर तीन बच रहे और मैं उन्हें खाना देता रहा। इसमें से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी। उसे देखकर मुझे बड़ी तकलीफ होती थी। मैंने बड़ी चिंता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०-१२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पड़ता था। वह बच गई और मुझे इस बात पर खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई।

बाहर की अपेक्षा जेल में जानवरों से मेरा ज्यादा साबका पड़ा। मुझे कुत्तों का बड़ा शौक रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामों में लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल में मैं उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिंदुस्तानी आमतौर पर घर में जानवर नहीं पालते। यह ध्यान देने लायक बात है कि जीव-दया के सिद्धांत के अनुयायी होते हुए भी अक्सर उनकी अवहेलना करते हैं, यहांतक कि गाय के साथ भी, जो हिंदुओं को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दंगों का कारण बनती है, दया का बर्ताव नहीं होता। मानों पूजाभाव और दयाभाव दोनों का साथ नहीं हो सकता।

भिन्न-भिन्न देशवालों ने भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों को अपनी महत्वाकांक्षा या अपने चारित्र्य का प्रतीक बनाया है। उकाब संयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिंह और बुलडॉग

इंग्लैंड का, लड़ते हुए मुर्गे फ्रांस का और भालू पुराने रूस का प्रतीक है। सवाल यह है कि वे संरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ से जायंगे? इनमें ज्यादातर तो आक्रमणकारी, लड़ाकू और शिकारी जानवर हैं। ऐसी दशा में, कोई ताज्जुब की बात नहीं है, कि जो लोग इन नमूनों के सामने रखकर अपना जीवन-निर्माण करते हैं वे जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते हैं, दूसरों पर गुर्राते हैं, गरजते हैं और झपट पड़ते हैं। और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि हिंदू नरम और अहिंसक है; क्योंकि उनका आदर्श पशु है गाय।

: १४ :

मैं कब पढ़ता हूं ?

मेरे मित्र मुझसे अक्सर पूछते हैं—"भला तुम पढ़ते कब हो?" मेरी जिंदगी तरह-तरह की हलचलों से काफी शराबोर मालूम पड़ती है, जिनमें कुछ तो शायद उपयोगी होती हैं, दूसरी ऐसी कि जिनकी उपयोगिता संदिग्ध रहती है। जब सर-दर्दी से भरे हुए राजनीति के काम में हमारी जवानी खप जाती है और हमारे दिन-रात सब उसीमें चले जाते हैं, जो अपेक्षाकृत अच्छी अवस्था में इससे सुखद कामों में लगते, तब किताबों से नाता जोड़ उनके आकर्षणयुक्त जगत में रहना आसान नहीं है। मगर इस भयंकर चक्कर में भी मैं रात के वक्त ऐसी कोई किताब पढ़ने के लिए थोड़ा-सा वक्त निकालने की कोशिश करता हूं जो राज-नीति से बिल्कुल दूर हो। लेकिन मेरा बहुत-कुछ पढ़ना, इस विशाल देश का इधर-से-उधर सफर करते हुए, रेल में ही होता है।

रेल का तीसरे या डयोढ़े दर्जे का डब्बा ऐसा नहीं होता कि उसमें लिखा-पढ़ा या कोई काम किया जा सके; लेकिन अपने साथी-मुसाफिरों से सदा ही मिलनेवाले मित्रता के व्यवहार और रेलवे अधिकारियों की कृपा से हालत वदल जाती है और मुझे भय है कि मैं दावा नहीं कर सकता कि ऐसे सफर में होनेवाली सब असुविधाओं का मुझे अनुभव है, क्योंकि दूसरे लोग इस वात पर जोर देते हैं कि मैं आराम से बैठूं और दूसरी ऐसी मेहरवानियां करते हैं, जिससे मेरे सफर में मुझे सुखद मानवता का स्पर्श हो जाता है। यह वात नहीं कि मुझे असुविधा से कोई प्रेम है या मैं जान-बूझकर उसे मोल लेना चाहता हूं। तीसरे दर्जे में मैं जो सफर करता हूं, वह भी इसलिए नहीं कि उसमें कोई वात या सिद्धांत निहित है, वल्कि असली वात तो रुपये, आने, पाई की है। तीसरे दर्जे के और दूसरे दर्जे के किराये में इतना ज्यादा फर्क है कि अत्यंत आवश्यक हो जाने पर ही मैं दूसरे दर्जे के सफर की शौकीनी करने का साहस करता हूं।

पुराने दिनों में कोई एक दर्जन साल पहले, सफर करते हुए मैं वहुत-कुछ लिखा करता था, खासकर कांग्रेस-कार्य से संवंधित पत्र सफर में ही लिखता था। यहांतक कि मुख्तलिफ रेलों में सफर का वार-वार काम पड़ते रहने से उनकी अच्छाई-वुराई का निर्णय मैं इसी वात से करने लग गया कि लिखने की सुविधा उनमें से किसमें ज्यादा है। मेरा खयाल है कि ईस्ट इंडियन रेलवे को मैंने पहला नंवर दिया था, नार्थ वेस्टर्न रेलवे भी ठीक थी, लेकिन जी. आई. पी. रेलवे निश्चित रूप से वुरी थी और वुरी तरह से हिला डालती थी। ऐसा क्यों था, यह मैं

नहीं जानता, न मैं यही जानता हूं कि विभिन्न रेलवे कंपनियों के किराये एक दूसरे से इतने अलग क्यों होने चाहिए, जबकि वे सब-की-सब हैं सरकारी नियंत्रण में ही। यहां भी जाकर जी. आई. पी. रेलवे ही एक सबसे ज्यादा खर्चीली रेलवे ठहरती है और यह मामूली वापसी टिकट भी जारी नहीं करती।

अब मैंने चलती गाड़ी में ज्यादा लिखने की आदत छोड़ दी है। शायद अब मेरा शरीर भी उतना लचीला नहीं रहा है और अपनेको इस तरह नहीं रख सकता कि चलती गाड़ी में जो हिलना और उछलना होता है, उसको बर्दाश्त कर ले। फिर भी अपनी यात्रायों में किताबों से भरकर संदूक मैं अपने साथ ले जाता हूं। उन सबको संभवतः मैं पढ़ नहीं सकता। उन्हें चाहे पढ़ा न जाय, फिर भी अपने आस-पास किताबों के मौजूद रहने से संतोष तो रहता ही है।

यह सफर लंबा, ठेठ कराची तक होनेवाला था, जो मुझे अपनी हवाई यात्रा के बाद करीब-करीब यूरोप के आधे रास्ते जितना ही मालूम पड़ा। इसलिए मेरा संदूक जुदा-जुदा किस्म की किताबों से अच्छी तरह भरा हुआ था। जैसा कि मेरी आदत थी, ड्योढ़े दर्जे के डब्बे में मैं रवाना हुआ। लेकिन दूसरे दिन लाहौर में रास्ते की भयानक और भीषण गर्मी व धूल ने मेरे इरादे को ढीला कर दिया और मैंने दूसरे दर्जे के सफर की शौकीनी अख्तियार कर ली। इस तरह साधारणतः सुविधा और आराम के साथ मैंने सिंध के रेगिस्तान को पार किया। यह अच्छा ही हुआ जो मैंने ऐसा किया, क्योंकि अपने डब्बे को अच्छी तरह बंद कर लेने पर भी उसमें जो दरारें वगैरह रह गई थीं, उनसे धूल के बादल-के-बादल अंदर आये और हमारे ऊपर धूल

की तह-की-तह जम गई; हमारे लिए सांस तक लेना भारी हो गया। तीसरे दर्जे का खयाल आने पर तो मैं कांप उठा। गर्मी वगैरह को तो मैं वर्दाश्त कर सकता हूं लेकिन धूल का वर्दाश्त करना मेरे लिए वहुत मुश्किल है।

इस लंवे सफर में जो किताबें मैंने पढ़ी उनमें एक एडवर्ड विल्सन के वारे में थी। वह एक असाधारण और स्मरणीय मनुष्य था, जो पशु-पक्षियों का प्रेमी था, ऐंटार्कटिक प्रदेश में स्काट का मरते दम तक साथी रहा था। और यह किताव मुझे एक दूसरे स्मरणीय मनुष्य से मिली थी, इसलिए इसका मुझे दुहरा आकर्षण था। ए. जी. फ्रेजर का यह उपहार था, पश्चिमी अफ्रीका के उस एचिमोटा कालेज में वहुत दिनों तक प्रिंसिपल रहे थे, जो कि उनके परिश्रम, सहानुभुति और प्रेम से निर्मित अफ्रिकन शिक्षा की श्रेष्ठ और अद्‌भुत यादगार है।

जैसे-जैसे हमारी गाड़ी आगे वढ़ती गई, सिंध का रेतीला और अटपटा रेगिस्तान गुजरता गया। इसी वीच मैंने ऐंटार्कटिक प्रदेशों में विपरीत परिस्थितियों से मनुष्य की वहादुराना लड़ाई, उस मानवी साहस की, जिसने खुद शक्तिमान प्रकृति पर ही विजय प्राप्त कर ली और ऐसी सहिष्णुता का हाल पढ़ा, जो करीव-करीव विश्वास से वाहर की ही चीज है। साथ ही हरेक संभवनीय दुर्भाग्य के मौके पर अपनेको भूलकर खुशमिजाजी के साथ अपने साथियों के प्रति वफादार और भारी प्रयत्नशील रहने का भी हाल पढ़ा। और यह सव किसलिए ? न तो संवंधित शक्तियों की किसी सुविधा के लिए और न किसी सार्वजनिक हित या विज्ञान के लाभ की ही दृष्टि से। तव ? महज उस साहसिकता के कारण जो कि इंसान में होती है—वह भावना जो

कभी झुकना नहीं जानती, बल्कि हमेशा ऊंचे-ही-ऊंचे जाने की कोशिश करती है—वह वाणी कि जो आकाश से हमें सुनाई देती है। हममें से ज्यादातर इस आवाज को वहरे कानों से सुनते हैं, लेकिन यह अच्छा है कि कुछ लोग इसको सुनते हैं और हमारी मौजूदा संतान को श्रेष्ठ बनाते हैं। उनके लिए जीवन एक निरंतर चुनौती, एक दीर्घ साहसिकता और प्रयोगात्मक चीज है।

"I count life just a stuff to try the soul's strength on..."

ऐसा था वह एडवर्ड विल्सन और यह ठीक ही है कि दक्षिणी ध्रुव में पहुंचकर वह और उसके साथी उसी विस्तृत ऐंटार्कटिक प्रदेश में अंतिम विश्राम करने लगे, जहां लंबी-लंबी दिन-रातें होती हैं और गहरी खामोशी छाई रहती है। वहां वर्फ और तुषार के ढेरों में वे चिर-विश्राम कर रहे हैं और उनके ऊपर इंसानी हाथ से यह आलेख किया हुआ है, जो उचित ही है :

"प्रयत्न, आकांक्षा और खोज में लगे रहो। हिम्मत कभी न हारो।"

ध्रुवों को विजय किया जा चुका है, रेगिस्तानों की पैमायश हो चुकी है, ऊंचे-ऊंचे गिरि-शिखरों पर मनुष्य पहुंच गया है, लेकिन एवरेस्ट (गौरीशंकर) अभी भी अविजित होने का गर्वानुभव कर रहा है।

मगर मनुष्य सतत प्रयत्नशील है और एवरेस्ट को उसके आगे झुकना ही पड़ेगा; क्योंकि उसके दुवले-पतले शरीर में मस्तिष्क एक ऐसी चीज है, जो किसी वंधन को नहीं मानती और उसमें ऐसी भावना है, जो पराजय को कभी स्वीकार नहीं करती। तब, रहा क्या ? जमीन, क्योंकि छोटी-छोटी और

अद्‌भुत एवं सतत साहसिकता धीरे-धीरे इससे विदा होती जा रही मालूम पड़ती है। कहा तो यहांतक जाता है, कि ध्रुव-प्रदेश से युद्ध शायद वहुत जल्दी ही एक साधारण घटना हो जायगी, पहाड़ों पर रस्सी के सहारे दौड़ते हुए चढ़ा जाने लगेगा और उनके शिखरों पर शानदार होटल खुलेंगे और तरह-तरह के सुंदर वाजे रात की खामोशी और वर्फ की चिर नीरवता को भंग करेंगे, अधेड़ उम्र के आदमी ताश खेलते हुए इधर-उधर की गपशप करेंगे और नौजवान व बूढ़े वड़े जोरों से आनंदोपभोग की खोज करेंगे।

इतने पर भी साहसियों के लिए साहस के काम हमेशा मौजूद रहते हैं। और अभी भी यह विशाल संसार उन्हींका साथ देता है, जिनमें भावुकता और साहसिकता होती है, और तारे समुद्रों के पार उनका आवाहन करते हैं। जव कि जो लोग चाहें उनके लिए जीवन में साहसिकता वहीं मौजूद हो, तव क्या साहस दिखाने के लिए ध्रुवों पर या पहाड़ी रेगिस्तान में जाने की जरूरत है? ओह! अपने और अपने समाज के जीवन को हमने कैसा वना दिया है, अपने सामने मानव-भावना की स्वतंत्र वृद्धि एवं आनंद और वहुलता के होते हुए भी हम भूखों मर रहे हैं। और पहले से कहीं रही गुलामी में हमने अपनी भावनाओं को कुचल डाला है। हमें चाहिए कि भरसक इस हालत के वदलने की कोशिश करें, जिससे मानव-प्राणी अपनी महान विरासत के योग्य वने और अपने जीवन को सौंदर्य, आनंद एवं आध्यात्मिकता की वातों से संपन्न करे। जीवन में साहस से स्फूर्ति मिलती है और यही सवसे वड़ी साहसिकता है।

रेगिस्तान अंधेरे से ढका है। लेकिन गाड़ी अपने निश्चित

लक्ष्य की ओर भागी जा रही है। इसी तरह शायद मानवता भी विघ्न-बाधाओं से लड़ती आगे बढ़ रही है। हालांकि रात अंधेरी है और लक्ष्य हमें दिखाई नहीं पड़ रहा है, शीघ्र ही सवेरा होगा और रेगिस्तान के बजाय नीला समुद्र हमारा स्वागत करेगा।

जुलाई, १९३६

: १५ :

हमारा साहित्य

दो वर्ष से अधिक हुए, जब मैं कुछ महीनों के लिए जेल के बाहर आया था, तब मैं भाई शिवप्रसाद गुप्त से बनारस मिलने गया था। इस सिलसिले में मुझे अवसर मिला कि मैं कुछ मित्रों से, जो हिंदी-साहित्य से संबंध रखते हैं, मिलूं। इस मौके को मैंने खुशी से अपनाया। साहित्य के बारे में हममें कुछ चर्चा हुई। मैं डरते-डरते ही बोला था, क्योंकि मैं इस मामले में बहुत कम जानता था और इसलिए कुछ कहने का साहस भी नहीं रखता था। बाद में मैंने आश्चर्य के साथ सुना कि हमारी आपस की बातचीत कुछ अखबारों में किसीने छपवा दी है। मैं नहीं जानता कि क्या छपा था, क्योकि मैंने उसे देखा नहीं। इसलिए मैं कह नहीं सकता कि वह सही था या गलत। फिर यह सुनने में आया कि हिंदी के समाचारपत्र मुझसे बहुत नाराज हैं और बनारस की मेरी बातों पर बहुत बहस-मुबाहसा हो रहा है। मैं और कामों में लगा था, इसलिए इंधर ध्यान न दे सका और फिर जल्दी ही दुबारा जेल चला गया।

मैंने उस समय, दो बरस पहले, क्या कहा था, उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं। उसमें कोई खास बात नहीं थी। न यह बात बहस-तलब ही है कि मेरा हिंदी-साहित्य का ज्ञान कितना

है। वह तो वहुत कम है। मैंने कुछ पुराना साहित्य पढ़ा है, कुछ नया। कुछ कोशिश की यह समझने की कि हिंदी-साहित्य में आजकल क्या-क्या विचार-धाराएं चल रही हैं, क्या-क्या सवाल उसके सामने हैं, उसकी निगाह किधर है; लेकिन यह थोड़ा-सा पढ़ना या सोचना मुझे इस वात का अधिकार नहीं देता कि मैं जानकारों के सामने अपनी अनजान आवाज उठाऊं। ऐसी हालत में अगर मैं औरों की नुक्ताचीनी की कोशिश करूं तो सरासर मेरी नालायकी होगी।

फिर भी मैं वेहयाई से हिम्मत करता हूं कि इस विषय पर कुछ शब्द लिखूं—इस आशा से कि औरों की मदद से मैं कुछ सीख सकूं।

कुछ दिन हुए 'विशाल भारत' के एक लेख में मैंने यह पढ़ा—"वहुत लोगों की दृष्टि से इसका (हिंदी का) साहित्य काफी ऊंचा हो गया है। इसके लेखकों की तुलना शेक्सपियर से लेकर टाल्सटाय और वर्नार्डशा तक समय-समय पर होती रही है।" यह पढ़कर मुझे खुशी हुई। मुझे मालूम था कि हिंदी-साहित्य में एक नई जाग्रति हुई है और वह आगे वढ़ रहा है; लेकिन मैं नहीं जानता था कि वह इतनी दूर तक पहुंच गया है। मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं इन शेक्सपियर इत्यादि के तुल्य लेखकों को पढ़ूं और इस वारे में मैंने कुछ मित्रों से अनुरोध किया कि वे मुझे ये पुस्तकें भेजें। कुछ कितावें मेरे पास आईं भी और मैंने उनको पढ़ा भी। लेकिन मेरी आशाएं पूरी नहीं हुईं। शायद ठीक पुस्तकें मेरे पास न आई हों और इस वारे में और लोग मेरी सहायता कर सकें। अगर 'विशाल भारत' के संपादक महोदय और अन्य हिंदी-साहित्य के पंडित एक सौ या

पचास चुनी हुई किताबों की फहरिस्त बना दें तो बहुतों को उससे सहायता मिलेगी। ये पुस्तकें ऐसी हों, जो पिछले तीस-या पैंतीस वर्षों में लिखी गई हों, यानी इस बीसवीं शताब्दी की हों।

साहित्य क्या चीज है, इसपर हर भाषा में बहस रहती है और बहुत तरह की रायें होती हैं। इस बहस में मैं पड़ना नहीं चाहता; लेकिन अधिकतर लोग कदाचित यह मान लेंगे कि उसमें दो प्रश्न उठते हैं—एक विषय का और दूसरा उसके प्रतिपादन का। साहित्य में दोनों की ही जरूरत है।

मेरी पहली कठिनाई यह है कि जिन विषयों में मुझे दिलचस्पी है, उनमें मुझे अभी तक हिंदी में बहुत कम पुस्तकें मिली हैं। मैं आजकल की दुनिया को समझना चाहता हूं। जो ऊपरी वाकयात होते हैं और जिनका हाल हम कुछ समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं, मैं उनके पीछे देखना चाहता हूं, ताकि मैं समझूं कि वे क्यों हुए; क्या-क्या अंदरूनी ताकतें दुनिया के लोगों को इधर-उधर धकेल रही हैं; क्या-क्या भावनाएं उनके दिलों में हैं, कौन-कौन से बड़े-बड़े सवाल संसार-भर को और हमारे देश को परेशान कर रहे हैं? मेरा दिमाग उस परेशानी में खुद फंसा है, उन सवालों के जवाब ढूंढ़ता रहता है, उन कठिन गांठों को खोलने की कोशिश करता है। इसलिए हर समय रोशनी की तलाश रहती है, जो अंधेरे में उजाला करे और ठीक रास्ता दिखाये, जिसपर हम इतमीनान से आगे बढ़ें।

दुनिया को समझने के लिए सिर्फ राजनीति को समझना काफी नहीं है। राजनीति तो अधिकतर एक कठपुतली का तमाशा है, जिसके पीछे कुछ ऐसी छिपी, और अकसर खुली,

शक्तियां हैं, जो उसको चलाती हैं। अर्थशास्त्र के सब पहलुओं को जानने की आवश्यकता हो जाती है और आजकल जो सोने, चांदी और नाना प्रकार के सिक्कों ने अजीब खेल कर रखा है, बड़ी-बड़ी मशीनों और कारखानों ने दुनिया में जो जबरदस्त क्रांति पैदा की है, राष्ट्रवाद, लोकतंत्रवाद, पूंजीवाद, साम्यवाद इत्यादि—यह सब क्या हैं और दुनिया पर क्या असर डाल रहे हैं? अंतर्राष्ट्रीयता का भाव कितना बढ़ रहा है? यह सब मामूली सवाल हैं, जिनपर बहुतेरे मनुष्य कुछ-न-कुछ कहने को या लिखने को तैयार हो जायं; लेकिन मोटी बातें दोहराने से ज्यादा फायदा नहीं होता। अगर हम असल में इन सबको समझना चाहते हैं तो हमें गहराई में जाना पड़ेगा और ऐसी पुस्तकें हमें चाहिए, जो उस गहराई तक ले जा सकें।

फिर यह भी आवश्यक हो जाता है कि हम और देशों का आधुनिक हाल पढ़ें और जानें—यूरोप के देशों का, रूस का, अमेरिका का, चीन का, जापान का, मिस्र इत्यादि का। किसी भी देश का आजकल का हाल समझना तबतक करीब-करीब असंभव है, जबतक हम उसका पुराना हाल न जानें। जो प्रश्न इस समय हमारे सामने हैं, उन सबकी जड़ पुराने जमाने में है। इसलिए इतिहास जानना हमारे लिए जरूरी हो जाता है और इतिहास भी केवल एक या दो देशों का नहीं, बल्कि सारी दुनिया का।

हमें यह भी याद रखना है कि आजकल की दुनिया और हमारा जीवन विज्ञान से बंधा हुआ है। इसलिए विज्ञान के सिद्धांत और उसके नए विचार तो हमें समझने ही हैं। मुझे इन बातों में बहुत दिलचस्पी रही है खासकर भौतिक विज्ञान और

नए खयालात में, जैसे रिलेटिविटी और क्वांटम थ्योरी, जीव-विज्ञान, समाज-विज्ञान, मनो-विज्ञान और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।

इन सब विषयों पर आजकल यूरोप-अमेरिका में हजारों किताबें हर साल निकल रहीं हैं। उनमें बहुतेरी मामूली किस्म की हैं, कुछ फिजूल हैं; लेकिन एक काफी तादाद ऊंचे दर्जे की भी है। विदेशी अखबारों और पत्रिकाओं में भी इन मजमूनों पर बहुत अच्छे लेख निकला करते हैं। मैं आशा करता हूं कि हिंदी में इन विषयों पर जो नई पुस्तकें हैं, उनकी फेहरिस्त तैयार की जायगी। यह जाहिर है कि स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों के लिए जो किताबें इम्तहान पास करने को लिखी जाती हैं, उनकी इस फेहरिस्त में आवश्यकता नहीं।

मैंने कविता, उपन्यास और नाटक का या ऐसी ही और पुस्तकों का, जिनको शायद शुद्ध साहित्य कहा जाय, जिक्र ऊपर नहीं किया है। ऐसी पुस्तकों के नाम भी फेहरिस्त में होने जरूरी हैं। मैंने कुछ ऐसी किताबें पढ़ी भी हैं और मुझे पसंद भी आई हैं। कविताएं अक्सर बहुत अच्छी होती हैं, बहुत मीठी होती हैं; लेकिन कभी-कभी मिठास इस कदर होती है कि उसमें शीरे की चिपक-सी आ जाती है। विषय अधिकतर चंद चुने हुए ही होते हैं और उनके बाहर जाना कम होता है। मेरे दुर्भाग्य से मुझे कोई ऐसा उपन्यास अभी तक नहीं मिला है, जिसका मुकाबला मैं मशहूर विदेशी उपन्यासों से करूं। नाटक मैंने अभी तक कोई माकूल नहीं पाया। मेरे अज्ञान से और मेरे अपरिचित होने से तो कोई नतीजा नहीं निकलता, सिवा इसके कि मेरी तालीम में कसर है। इस कसर को मैं औरों की सहायता से कुछ पूरा किया

चाहता हूं।

एक और बात में मैं मदद चाहता हूं, वह यह कि हिंदी-संसार में आजकल कौन-कौन विचार-धाराएं हैं? हिंदी पत्रिकाओं और पुस्तकों से यह अवश्य मालूम होता है कि साहित्य में एक जागृति है और एक ढूंढ़ है; लेकिन फिर भी उनसे इस प्रश्न का साफ उत्तर नहीं मिला। मैं समझता था कि साहित्य सम्मेलन में इन बातों पर विचार होगा। मैं नहीं जानता कि उसमें कहांतक विचार हुआ। १९३५ के अधिवेशन में, समाचारपत्रों से तो यही मालूम होता था, सबसे बड़ा प्रश्न एक लाख रुपये की थैली का था। इसलिए मैं अभी तक इस जरूरी मसले को, जोकि किसी भी साहित्य की जान है, नहीं समझ सका, और यह मेरे लिए शर्म की बात है। अन्य देशों के और अन्य भाषाओं के बारे में मैं कुछ-न-कुछ कह सकता हूं कि वहां साहित्य के प्रश्नों पर क्या गौर और विचार-विनिमय आजकल हो रहा है—अमेरिका में, इंग्लैंड में, फ्रांस में, रूस में, जर्मनी में, चीन में, टर्की में। लेकिन अपने देश और अपनी मातृभाषा के बारे में मैं यह नहीं कह सकता।

मैं अपना मतलब साफ कर दूं यह दिखाकर कि और देशों में क्या-क्या प्रश्न साहित्य-संसार को परेशान कर रहे हैं। सब देशों में साहित्यकारों की बहुत-सी सभाएं और सम्मेलन हैं—बहुतेरे राष्ट्रीय, कुछ अंतर्राष्ट्रीय। कुछ अरसा हुआ, जून सन् १९३५ में पेरिस में एक बड़ा अंतर्राष्ट्रीय साहित्य-सम्मेलन हुआ था, जिसमें सारे यूरोप और अमेरिका से लोग आये थे। उसका नाम था—'International Congress of Writers for the Defence of Culture.' (संस्कृति की रक्षा के लिए लेखकों

की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस)। इस कांग्रेस की विषय-सूची से मालूम होता है कि यूरोप और अमेरिका के साहित्य-संसार में किन प्रश्नों पर गौर हो रहा है। इस विषय-सूची की एक नकल मैं नीचे देता हूं। मैंने इसे अंगरेजी ही में दे दिया है। इसलिए कि मैं उसका ठीक अनुवाद नहीं कर सकता। मैं आशा करता हूं कि संपादकजी अनुवाद कर लेंगे।

सूची

Outline of subjects prepared for discussion at the International Congress of Writers for the Defence of Culture held in Paris in June 1935,

I. The Cultural Heritage.

(सांस्कृतिक उत्तराधिकार)

Tradition and invention. (परंपरा और आविष्कार)
The recovery and protection of cultural values.

(सांस्कृतिक निधि की रक्षा और पुनरुद्धार)

The future of culture. (संस्कृति का भविष्य)

II. Humanism

(मानवता)

Humanism and Nationality. (मानवता और राष्ट्रीयता)
Humanism and individual. (मानवता और व्यक्ति)
Proletarian humanism. (श्रमजीवी मानवता)
Man and the machine. (मनुष्य और मशीन)
Man and leisure. (मनुष्य और अवकाश)
The writer and the workers. (लेखक और मजदूर)

III. *Nation and Culture,*
(राष्ट्र और संस्कृति)

The relations among national cultures. (राष्ट्रीय संस्कृतियों के पारस्परिक संबंध)

National cultures and humanism. (राष्ट्रीय संस्कृतियां और मानवता)

National cultures and social classes. (राष्ट्रीय संस्कृतियां और सामाजिक वर्ग)

Class and culture. (वर्ग और संस्कृति)

The literary expression of national minorities (राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों का साहित्यिक आत्म प्रकाश)

Nationalism as opposed to national realities. (राष्ट्रीय वास्तविकता के विरुद्ध राष्ट्रीयता)

War and culture. (युद्ध और संस्कृति)

The literature of colonial people. (औपनिवेशिक जातियों का साहित्य)

The broad public and the 'initiated' (साधारण जनता और 'दीक्षित' लोग)

Isolated figures and precursors. (विच्छिन्न मूर्तियां और अग्रदूत)

Translations. (अनुवाद)

IV. *The Individual*
(व्यक्ति)

The relation between the writer and society—opposition or agreement? (सामाजिक विरोध या समर्थन में लेखक और समाज का संबंध)

The individual as an expression of his class. (अपने वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में व्यक्ति)

V. The Dignity of Thought
(विचारों की मर्यादा)

The nature of the liberty of the artists.
(कलाकारों की स्वतंत्रता का ढंग)

Liberty of expression. (वाणी की स्वतंत्रता)

Direct and indirect forms of censorship. (प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सेंसरशिप)

Writers in exile. (निर्वासित लेखक)

Illegal literature. (गैरकानूनी साहित्य)

VI. The Writer's Role in Society
(समाज में लेखक का भाग)

His relation with the public. (जनता के साथ उनका संबंध)

The lessons of Soviet literature. (सोवियत साहित्य की शिक्षाएं)

Literature and the proletariat. (साहित्य और श्रमजीवी

Writers and youth. (लेखक और नवयुवक)

The critical value of literature. (साहित्य का आलोचनात्मक मूल्य)

The positive value of literature. (साहित्य का निरपेक्ष मूल्य)

Literature as a mirror and criticism of society.
(समाज के दर्पण और आलोचना के रूप में साहित्य)

VII. Literary Creation
(साहित्यिक रचना)

The influence of social change on artistic forms.
(सामाजिक परिवर्तनों का कला के ढंगों पर प्रभाव)

Value of continuity and values of discontinuity
(साहित्य में निरवच्छिन्नता और विछिन्नता का मूल्य)

The different forms of literary activity. (साहित्यिक कार्य के विविध रूप)
The social role of literature. (साहित्य का सामाजिक कार्य)
Imitation or creation of types. (विशेष प्रकार के चरित्रों की सृष्टि और उसकी नकल)
The creation of heroes. (नायकों की सृष्टि)
The new technical means of expression. (साहित्य के प्रतिपादन में नवीन टेकनिकल साधन)

VIII. Writers & the Defense of Culture
(लेखकों और संस्कृति की रक्षा)

How their efforts can be co-ordinated (लेखकों के प्रयत्नों में कैसे साम्य पैदा किया जा सकता है)

इस विषय-सूची के मजमूनों पर हिंदी के साहित्याचार्यों की क्या राय है, यह जानकर मुझे और वहुत-से लोगों को फायदा होगा। मैं आशा करता हूं कि वे अपनी राय देंगे।

जुलाई, १९३५

: १६ :

साहित्य की बुनियाद

हम लोग जो राजनीतिक क्षेत्र में काम करते हैं, देश के और जरूरी पहलू अक्सर भूल जाते हैं। किसी देश की असल जागृति उसके नए साहित्य से मालूम होती है; क्योंकि उसमें जनता के नए-नए विचार और उमंगें निकलती हैं। जो जाति खाली पुराने साहित्य पर रहती है वह चाहे कितनी ही ऊंची क्यों न हो, वह पूरी तौर से जीवित नहीं है और आगे नहीं बढ़ सकती। इसलिए अगर हिंदुस्तान की आजकल की हालत का

अंदाजा किया जाय तो हमें उसके नए साहित्य को, जो इस देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं में है, देखना चाहिए। इससे मालूम होता है कि एक नई जागृति हमारी सभी भाषाओं में है। हिंदी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी इत्यादि। लेकिन फिर भी आज-कल के क्रांतिकारी समय में वह कुछ कम मालूम होती है। अभी तक हमने कोई बहुत अच्छे राष्ट्रीय गाने भी नहीं पैदा किये जो कि ऐसे समय में अक्सर पैदा होते हैं। चीन में भयानक लड़ाई हो रही है और बीस बरस से वहां की हालत बहुत खराब है, फिर भी वहां के नए साहित्य ने बहुत तरक्की की है और वह जानदार है। इसीसे असल अंदाजा चीन के लोगों की अंदरूनी शक्ति का है और हमें विश्वास होता है कि वह किसी बाहरी हमले से दब नहीं सकती। इसलिए यह हमारे लिए जरूरी है कि हम अपने साहित्य की तरफ काफी ध्यान दें और उसको एक नया रूप दें, जिससे वह नए हिंदुस्तान की हुलिया का एक आइना हो। हम हिंदी और उर्दू या बंगला या किसी और भाषा की फिजूल बहसों में न पड़ें; बल्कि सभीकी उन्नति की कोशिश करें। एक के बढ़ने से दूसरी भी बढ़ेगी। मुझे खुशी है कि उर्दू अकादमी उर्दू का यह काम करती है। इसी तरह से हिंदी-साहित्य के लिए भी काम करना चाहिए। और दोनों को मिलकर हिंदु-स्तानी साहित्य की मजबूत बुनियाद डालनी चाहिए। इस बात की हमें बहुत फिक्र नहीं करनी चाहिए कि हिंदी और उर्दू में इस समय कितना फर्क है, अगर दोनों का उद्देश्य एक है—यानी आम जनता की भाषा तरक्की—तब तो दोनों करीब आती जायंगी। बुनियादी बात यही है कि हमारे साहित्यकार इस बात को याद रखें कि उनको थोड़े-से आदमियों के लिए नहीं लिखना

है; वल्कि आम जनता के लिए लिखना है। तव उनकी भाषा सरल होगी और देश की असली संस्कृति की ताकत उसमें आ जायगी। वह जमाना जाता रहा जव कि किसी देश की संस्कृति थोड़े-से उपर के आदमियों की थी। अव वह आम जनता की होती जाती है और वही साहित्य वढ़ेगा जो इस वात को सामने रखता है।

मुझे खुशी है कि दिल्ली में हिंदी-परिषद् की वैठक होने वाली है।[1] मैं आशा करता हूं कि इसमें हमारे साहित्यकार सव मिलकर ऐसे रास्ते निकालेंगे, जिससे हिंदी-साहित्य और मजवूत हो और फैले। उनका काम किसी और साहित्य के विरोध में नहीं है; वल्कि उनके सहयोग से आगे वढ़ना है। उर्दू हिंदी के वहुत करीव है और इन दोनों का नाता तो पास रहेगा ही। लेकिन हमें तो विदेशी साहित्यों से भी फायदा उठाना है; क्योंकि साहित्य की तरक्की विदेशों में वहुत हुई है और उससे हम वहुत-कुछ सीख सकते हैं।

आजकल की दुनिया में चारों तरफ लड़ाई, दंगा, फसाद हो रहा है। हिंदुस्तान में भी काफी फसाद और तरह-तरह की वहसें पेश होती हैं। ऐसे मौके पर यह और भी आवश्यक होता है कि हम अपनी नई संस्कृति की ऐसी वुनियाद रखें, जिसमें आजकल की दुनिया के विचार जम सकें और जव हमारे सामने पेचीदा मसले आयं तो हम वहके-वहके न फिरें। संस्कृति को एक ऐसा पारस पत्थर होना चाहिए, जिससे हर चीज की आजमाइश हो सके। अगर किसी जाति के पास यह नहीं है तो वह दूर तक नहीं जा सकती। हमें अपने सांस्कृतिक मूल्य कायम

१. यह परिषद् १४, १५ और १६ अप्रैल १९३९ को हुई थी।

करने हैं और उनको अपने साहित्य की और सभी काम की बुनियाद बनाना है।

अप्रैल, १९३९

: १७ :

शब्दों का अर्थ

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना बहुत कठिन काम है और सच पूछिए तो जरा भी गहरी बातों का ठीक-ठीक अनुवाद हो ही नहीं सकता। किसी भाषा का क्या काम है? वह हमको सोचने में मदद करती है। भाषा तो एक तरह से जमे हुए विचार हैं। उसके द्वारा हवाई खयालात एक मूर्ति बन जाते हैं। उसका दूसरा काम यह है कि उसके जरिये हम अपने विचारों का इजहार कर सकें और उनको औरों तक पहुंचा सकें; दो या अधिक आदमियों में खयालात की आमदरफ्त हो। भाषा और भी कई तरह से काम में आती है; लेकिन इसमें इस समय हमें जाने की आवश्यकता नहीं है। एक शब्द या एक वाक्य हमारे दिमाग में किसी-न-किसी मूर्ति की शक्ल में आता है। मामूली सीधे-सादे शब्द, जैसे मेज, कुर्सी, घोड़ा, हाथी आदि से, आसान और साफ मूर्तियां बनती हैं, और जब हम उनको कहते हैं तब सुननेवालों के दिमाग में भी अक्सर करीब-करीब वैसी ही मूर्तियां बन जाती हैं। इससे हम कह सकते हैं कि वे हमारे मानी समझ गये।

लेकिन जहां हम इन सीधे और आसान शब्दों से आगे बढ़े, वहां फौरन पेचीदगी पैदा हो जाती है। एक मामूली वाक्य भी दिमाग में कई तसवीरें पैदा करता है, और यह संभव है कि

सुननेवाले के दिमाग में कुछ और ही तसवीरें पैदा हों। वहुत-कुछ दोनों की मानसिक शक्ति पर निर्भर है—उनकी पढ़ाई पर, उनके तजरुवे पर, उनके ज्ञान पर, उनकी प्रेरणाओं पर और उनकी भावनाओं पर। अव एक कदम और आगे वढ़िए और ऐसे शव्द लीजिए जो अमूर्त और पेचीदा हैं, जैसे सत्य, सौंदर्य, अहिंसा धर्म, मजहव इत्यादि। हम रोज सैकड़ों दफे इन शव्दों का प्रयोग करते हैं; लेकिन अगर हमको उनके मानी पूरी तौर पर समझाने पड़ें तो हमें काफी कठिनाई हो। हम यह देख सकते हैं कि ऐसे शव्द दो आदमियों के दिमाग में कभी एक-सी मूर्तियां या तसवीरें पैदा नहीं करेंगे। इसके मानी यह हैं कि हम अपने मानी दूसरे को नहीं समझा सके, हालांकि हम दोनों वात एक ही कहते हैं; पर दोनों का अर्थ अलग-अलग है। यह दिक्कतें वढ़ती जायंगी, जितने अधिक पेचीदा और अमूर्त विचार हम पेश करेंगे और यह भी हो सकता है (और हुआ है) कि हम इसी गलत-फहमी की वजह से आपस में लड़ें और एक दूसरे का सिर फोड़ें।

यह सव कठिनाइयां दो ऐसे आदमियों में भी, जो एक ही भाषा के वोलनेवाले हैं, सभ्य और पढ़े हुए हैं और एक ही संस्कृति के पले हुए हैं, पैदा हो सकती हैं। अगर एक पढ़ा और दूसरा अनपढ़ और जाहिल हुआ तव उनके वीच में वड़ा भारी फासला हो जाता है और उनका एक-दूसरे को पूरी तौर से समझना असंभव हो जाता है। वे दो दुनियाओं में रहते हैं।

लेकिन यह सव कठिनाइयां छोटी मालूम होती हैं, जव हम इनका मुकावला करते हैं ऐसे दो आदमियों से, जो अलग-अलग भाषाएं वोलते हैं और एक दूसरे की संस्कृति को अच्छी तरह से नहीं जानते। उनके मानसिक विचारों से दिमागी तसवीरों में

तो जमीन-आसमान का फरक है। वे एक दूसरे को बहुत कम समझते हैं। फिर आश्चर्य क्या, जब वे एक दूसरे पर भरोसा न करें, एक दूसरे से डरें या आपस में लड़ें ?

एक भाषातत्वज्ञ प्रोफेसर जे० एस० मेकनजी ने, जिन्होंने भाषाओं पर और उनके संबंध पर बहुत गौर किया है, लिखा है :

"An English man, a French man, a German and an Italian cannot by any means bring themselves to think quite alike, at least on subjects which involve any depth of sentiment : they have not the verbal means."

अर्थात्—एक अंग्रेज, एक फ्रांसीसी, एक जर्मन और एक इटालियन किसी तरह एक प्रकार से नहीं सोच सकते, कम-से-कम भावनाओं की गहराई से संबंध रखनेवाले विषयों पर तो हर्गिज नहीं। उनके पास शब्दों का साधन ही नहीं है।

यह याद रखने की बात है कि एक अंग्रेज, एक फ्रांसीसी एक जर्मन और एक इटालियन एक ही संस्कृति की औलाद हैं और उनकी भाषाओं में बहुत करीब का संबंध है। फिर भी यह कहा जाता है कि वे किसी तरह से किसी गहरे विषय पर एक-सा नहीं सोच सकते, क्योंकि उनकी भाषाओं में अंतर है। अगर यह हाल उनका है तो एक हिंदुस्तानी और अंग्रेज का या उनकी भाषाओं का क्या कहा जाय ? धोती-कुर्ता पहनने से एक अंग्रेज हिंदुस्तानी की तरह नहीं सोचने लगता और न कोट-पतलून पहनने और छुरे-कांटे से खाने से एक हिंदुस्तानी यूरोप की सभ्यता को ही समझ जाता है।

जब एक-दूसरे को समझने में यह कठिनाइयां हैं तब बेचारा अनुवादक क्या करे ? कैसे इन मुसीबतों को हल करे ?

पहली वात तो यह है कि वह इनको महसूस करे और यह जान ले कि अनुवाद करना सिर्फ कोश को देखकर शाब्दिक अर्थ देना नहीं है। उसको दोनों भाषाओं को अच्छी तरह समझना है और उनके पीछे जो संस्कृति है, उसको भी जानना है। उसको कोशिश करनी चाहिए कि अपनेको भूल जाय और मूल लेखक की विचार-धाराओं में गोते खाकर फिर उन विचारों को अपने शब्दों में दूसरी भाषा में लिखे।

मेरा खयाल है कि हमारे अनुवादक इस गहराई में जाने की कोशिश कम करते हैं और ज्यादातर अखवारी तौर पर अनुवाद करते हैं। अक्सर ऐसे शब्द और वाक्य मुझे हिंदी में मिलते हैं, जिनको देखकर मुझे आश्चर्य होता है। 'ट्रेड यूनियन' का अनुवाद मैंने 'व्यापार-संघ' पढ़ा। यह शब्दों के हिसाव से विल्कुल सही है, लेकिन जो इस चीज को नहीं जानता, वह कभी नहीं समझ सकता कि व्यापार-संघ व्यापारियों का नहीं; वल्कि मजदूरों का है। ट्रेड यूनियन शब्दों के पीछे सौ वरस से अधिक का इतिहास है। जो उसको कुछ जानता है, वह समझेगा कि कैसे यह नाम पड़ा। फ्रांस में यह नाम नहीं है, न इसका अनुवाद है। वहां इसको सिंडिकेट कहते हैं। अगर फ्रेंच से हिंदी में अनुवाद हो तो क्या हम उसे 'सिंडिकेट' कहेंगे या कुछ और ? यह तो विल्कुल सीधा उदाहरण है। असल कठिनाई तो ज्यादा पेचीदा वातों में आती है।

दूसरी वात यह है कि अनुवादक लोग जहांतक हो सके, छोटे और आसान शब्दों का प्रयोग करें, जिनके कई मानी न हों, जो धोखा दे सकें। वाक्य लंबे-चौड़े न हों। दुनिया की अनेक भाषाओं में जो प्रसिद्ध साहित्य की पुस्तकें हैं, उनका अनु-

वाद प्रायः बहुत भाषाओं में होगया है और बहुत अच्छी तरह से हुआ है। कोई वजह नहीं मालूम होती कि हिंदी में भी ऐसे ही अच्छे अनुवाद क्यों न हों। मुझे तो पूरी आशा है कि जब हमारे साहित्यकार इधर ध्यान देंगे तो यह आवश्यक कार्य भी सफल होगा। बड़ी कठिनाई तो यह है कि हमारे विश्वविद्यालय के बी० ए० और एम० ए० अंगरेजी बहुत कम जानते हैं और अन्य विदेशी भाषाएं तो जानते ही नहीं।

साहित्य की मामूली किताबें अनुदित हो सकती हैं; लेकिन धर्म और दर्शनशास्त्र की तथा ऐसे ही अमूर्त विषयों की किताबों का ठीक अनुवाद करना तो असंभव मालूम होताहै। उनमें ऐसे शब्द आते हैं, जिनके बहुत-से जुदा-जुदा मानी होते हैं—एक पोशाक दर्जनों आदमी पहनते हैं, उनको पहचानें कैसे ? वे एक शब्द होने पर भी एक शब्द नहीं हैं और तरह-तरह की तसवीरें दिमागों में पैदा करते हैं, जैसे सौंदर्य, सत्य, 'धर्म, मजहब वगैरह। सौंदर्य को ही लीजिए। औरत का, प्रकृति का किसी विचार का, किसी कला का, सत्य का, वाक्य का, चाल-चलन का, उपन्यास का—ऐसे ही अगणित प्रकार के सौंदर्य कहे जा सकते हैं। इन सब बातों में एकता क्या है ? अगर यह कहा जाय कि जो चीज लोगों को पसंद हो और उनको प्रसन्न करे, उसी में सौंदर्य है तो यह तो एक बिल्कुल गोल बात हो गई, फिर लोगों की राय एक-सी नहीं होती।

हर भाषा में बहुत-से शब्द ऐसे गोल हैं, जिनके कई मानी हो सकते हैं, जो बिल्कुल खराब हो गये हैं और जिनके खास मानी रहे ही नहीं। कुछ भिखमंगे शब्द हैं, जिनके बारे में मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा था—"Terms thrown out, so to

speak, at a not fully grasped object of the speakers conciousness." कुछ शब्द खानाबदोश होते हैं, जो इधर-उधर फिरते हैं, जिनके कोई खास मानी नहीं हैं।

ऐसे शब्द हर भाषा में होते हैं और जिन लोगों के विचार साफ नहीं होते, वे खास तौर से इनका प्रयोग करते हैं। वे अपने दिमाग की कमजोरी को लंवे और गोल और किसी कदर वेमानी शब्दों में छिपाते हैं। जिस भाषा में ऐसे शब्दों का अधिक प्रयोग हो (मेरा मतलब इस समय सौंदर्य, सत्य आदि से नहीं है) उसकी शक्ति कम हो जाती है। उसके साहित्य में तलवार की तेजी नहीं होती और न वह तीर की तरह से कमान को छोड़कर अपना मतलव हल करता है।

हम कोशिश कर सकते हैं कि इन घिसे हुए, भिखमंगे और आवारा, शब्दों को हम अपने वोलने और लिखने में, जहांतक हो सके, पनाह न दें। अपराध तो वेचारे शब्दों का क्या है, वे तो कम सीखे हुए और अनुशासन-रहित दिमागों के हैं। वोलनेवाले और लिखनेवाले भाषा को वनाते हैं; लेकिन फिर उतना ही असर उस भाषा का उन नए आदमियों पर होता है, जो उसका प्रयोग करते हैं। पुरानी भाषाओं में संस्कृत, ग्रीक, लेटिन आदि में—शब्दों की या विचारों की ढील वहुत कम मिलती है, उनमें एक चुस्ती और हथियार की-सी तेजी पाई जाती है और वेकार शब्द वहुत कम मिलते हैं। इससे उनमें एक शान और वड़प्पन आ जाता है, जो कि खास असर पैदा करता है। आजकल की भाषाओं में शायद फ्रेंच सवसे अधिक साफ-सुथरी है और फ्रेंच लोग प्रसिद्ध हैं अपने मानसिक अनुशासन और अपने विचारों को वहुत शुद्धता से प्रकट करने के लिए।

जो किसी कदर निकम्मे शब्द हैं, उनका सामना तो हम इस तरह से करें; लेकिन जो हमारे ऊंचे दर्जे के शब्द हैं, उनका क्या किया जाय? वे हमें प्रिय हैं, वे हमारे लिए जरूरी हैं और अक्सर हमें उभारने में वे सहायता देते हैं। लेकिन फिर भी वे गोल हैं और कभी-कभी इतने मानी रखते हैं कि वेमानी हो जाते हैं। ईश्वर ही के खयाल को लीजिए। हर मजहब में और हर भाषा में उसकी तारीफ में हजारों शब्द कहे गये हैं। मालूम होता है कि इंसान का दिमाग इस खयाल को समझ नहींस का और अपनी कमजोरी छिपाने को कोष खोलकर जितने वड़े और जोरदार शब्द मिले, वे सब ईश्वर के मत्थे डाल दिए गये। उन सब शब्दों का अर्थ समझना मानसिक शक्ति के वाहर था; लेकिन वहुत-कुछ कह और लिख देने से एक तरह का संतोष हुआ कि हमने अपना फर्ज अदा कर दिया और कम-से-कम ईश्वर को अब हमसे कोई शिकायत नहीं करनी चाहिए। अल्लाह के हजार नाम हैं, गोया कि नाम वढ़ाने से असलियत ज्यादा साफ हो जाती है! God को अंग्रेजी में Absolute, Omnipotent, Omnicient, Omnipresent, Perfect, Unlimited, Immutable, Eternal इत्यादि कहते हैं। यह सब सुनकर किसी कदर दिल सहम अवश्य जाता है; लेकिन अगर इन शब्दों पर कोई गौर करने की धृष्टता करे तो उसकी समझ में वहुत-कुछ नहीं आता। मनोविज्ञान के प्रसिद्ध अमेरिकन पंडित विलियम जोज ने लिखा है:—

"The ensemble of the metaphysical attributesi magined by the theologians is but a shuf-

fling and matching of pedantic dictionary adjectives. One feels that in the theologians' hands they are only a set of titles obtained by a mechanical manipulation of synonyms, verbality has stepped into the place of vision, professonalism into that of life.

इसी तरह से इटालियन दार्शनिक क्रोस ने परेशान होकर sublime शब्द के मानी यह बतलाये हैं—"The sublime is every-thing that is or will be so called by those who have employed or shall employ the name." इसके बाद कुछ ज्यादा कहने की गुंजाइश नहीं रह जाती और हर एक को इतमीनान हो जाना चाहिए।

हर सूरत से यह ऊंचे दर्जे की हवाई बातें मामूली आदमी की पहुंच के बाहर हैं। बड़े पंडित और आचार्य तय करें कि अमूर्त शब्दों का प्रयोग हो और उनका कैसे अनुवाद हो। लेकिन फिर भी हम मामूली आदमियों को यह नहीं भूलना चाहिए कि शब्द खतरनाक वस्तु है और जितना ही वह अमूर्त है, उतना ही वह हमको धोखा दे सकता है, शायद सबसे अधिक खतरनाक शब्द धर्म या मजहब है। हर एक आदमी अपने दिल में अलग ही उसके मानी निकालता है। हरएक के मन में नई तसवीरें रहा करती हैं। किसीका ध्यान मंदिर, मसजिद या गिर्जे पर जायगा, किसीका चंद पुस्तकों पर, या पूजा-पाठ पर, या मूर्ति पर, या दर्शनशास्त्र पर, या रिवाज पर, या आपस की लड़ाई पर। इस तरह से एक शब्द लोगों के दिमागों में सैकड़ों अलग-अलग तसवीरें पैदा करेगा और उनसे तरह-तरह के विचार निकलेंगे। यह

तो भाषा की कमजोरी मालूम होती है कि एक ही शब्द ऐसा असर पैदा करे। होना तो यह चाहिए कि एक शब्द का संबंध एक ही मानसिक तसवीर से हो। इसके मानी यह हैं कि धर्म या मजहब के सौ टुकड़े हों और हरएक टुकड़े के लिए अलग शब्द हो। सुनने में आया है कि अमेरिका की पुरानी भाषा में प्रेम करने के लिए दो सौ से अधिक शब्द थे। उनसब शब्दों का हम अब कैसे ठीक अनुवाद कर सकते हैं ?

शब्दों के प्रयोग के बारे में किसी कदर महात्मा गांधी भी गुनहगार हैं। यों तो जो कुछ वे कहते हैं या लिखते हैं, वह साफ-सुथरा और प्रभावशाली होता है। उसमें फिजूल शब्द नहीं होते और न कोई कोशिश होती है सजावट देने की। इसी सफाई में उसकी शक्ति है। लेकिन जब वे ईश्वर या सत्य या अहिंसा की चर्चा करते हैं—और वे अकसर करते हैं—तब उस मानसिक सफाई में कमी हो जाती है। God is truth, Truth is God, Non-violence is truth. Truth is non-violence, अर्थात् ईश्वर सत्य है, सत्य ईश्वर है, अहिंसा सत्य है, सत्य अहिंसा है—यह सब उन्होंने कहा है। इस सबके कुछ-न-कुछ मानी अवश्य होंगे; लेकिन वे साफ बिल्कुल नहीं हैं। मुझको तो इस तरह के शब्दों का प्रयोग करना उनके साथ कुछ अन्याय करना मालूम होता है।

अगस्त, १९३५

: १७ :

राष्ट्र-भाषा का प्रश्न

मैं यह लेख प्रधान मंत्री की हैसियत से नहीं, वल्कि एक लेखक और एक ऐसे शख्स के तौर पर लिख रहा हूं, जिसे भाषा के सवाल में गहरी दिलचस्पी है। इस प्रश्न में मेरी दिलचस्पी उसके राजनैतिक और बदकिस्मती से सांप्रदायिक पहलुओं के कारण है। लेकिन इनसे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण इस प्रश्न के अधिक विशाल सांस्कृतिक पहलू हैं।

मैं किसी भाषा का पंडित तो नहीं हूं, फिर भी मुझे भाषा के सौंदर्य से, उसके शब्दों के संगीत से और शब्दों में भरे हुए जादू और ताकत से प्रेम रहा है। मेरा विश्वास है कि लगभग दूसरी हर चीज के वनिस्वत भाषा किसी राष्ट्र के चरित्र की ज्यादा वड़ी कसौटी है। अगर भाषा शक्तिशाली और जोरदार होती है तो उसको इस्तेमाल करनेवाले लोग भी वैसे ही होते हैं। अगर वह छिछली, लच्छेदार और पेचीदा है तो उसे वोलनेवाली प्रजा में भी वही लक्षण देखने को मिलेंगे।

वेशक, ज्यादा सच्चे ढंग से यह कहना चाहिए कि प्रजा के लक्षण उसकी भाषा में देखने को मिलते हैं, क्योंकि भाषा को वनानेवाले लोग ही होते हैं। लेकिन इस वात में भी कुछ सचाई है कि भाषा लोगों को वनाती है। जो भाषा ठीक-ठीक या यथार्थ होती है, वह लोगों को ठीक-ठीक विचार करनेवाले वनाती है। शब्दों या वाक्यों के अर्थ में यथार्थता और निश्चितता न होने से विचारों की गड़वड़ पैदा होती है और उसके परिणाम-स्वरूप काम भी वैसा ही होता है।

किसी भाषा को ऐसी तंग कोठरी में बंद कर दिया जाय, जिसमें कोई दरवाजे और खिड़कियां न हों और प्रगतिशील परिवर्तन आने की गुंजाइश न रहे तो उसमें निश्चितता और छटा भले ही हो सकती है, परंतु बदलते हुए वातावरण और जनसाधारण के साथ उसका संपर्क टूट जाने की संभावना रहती है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि उसमें ओज नहीं रहता और एक तरह का बनावटीपन आ जाता है। यह किसी भी समय अच्छी बात न होगी; परंतु मौजूदा प्राणवान और तेजी से बदलनेवाले युग में, जिसमें हमारे आसपास की लगभग सभी चीजें बदल रही हैं, तो बंद कमरे में भाषा मर ही जायगी।

पहले के जमानों की ललित भाषाओं में कई अच्छी बातें थीं; परंतु वे ऐसे लोकतंत्री युग के बिल्कुल अनुकूल नहीं हैं, जिसमें हमारा उद्देश्य आम जनता को शिक्षित बनाना है। इसलिए भाषा को दो काम पूरे करने ही चाहिए: उसका आधार उसकी प्राचीन धातुएं हों और साथ ही वह आम जनता की, न कि कुछ चुने हुए साहित्यकारों की, बढ़ती हुई जरूरतों के साथ बदलती और बढ़ती हों और असल में उसीकी भाषा हो। विज्ञान, शिल्पविज्ञान और विश्वव्यापी समागम के इस युग में यह और भी जरूरी है। जहांतक संभव हो, उस भाषा के विज्ञान और शिल्प-विज्ञान-संबंधी शब्द दूसरी भाषाओं के-जैसे ही होने चाहिए। इसलिए उसे एक संग्राहक भाषा होना चाहिए, जो अपने साधारण ढांचे से मेल खानेवाले हर बाहरी शब्द को अपनाती है। कभी-कभी वह शब्द उस भाषा की प्रतिभा के अनुकूल बनाने के लिए कुछ बदला भी जा सकता है।

संस्कृत, लेटिन वगैरह उच्च कोटि की या पंडिताऊ भाषाओं

का मानव-समाज के विकास में बहुत बड़ा हाथ रहा है। साथ ही उन्होंने लोकभाषाओं के विकास को कुछ रोका भी है। जब-तक विद्वान लोग उच्च कोटि की भाषाओं में सोचते और लिखते रहे तबतक लोकभाषा का सच्चा विकास नहीं हुआ। यूरोप में लेटिन १६वीं सदी के आसपास तक यूरोप की भाषाओं के विकास में बाधक रही। भारत में संस्कृत का इतना जबरदस्त प्रभाव था कि प्राकृत और बाद में जो प्रांतीय भाषाएं बनीं वे कुछ कुंठित हो गईं। बाद में हिंदुस्तान के बड़े-बड़े भागों में फारसी भी आलिमों की भाषा बन गई और वह भारत के कुछ भागों में लोकभाषाओं के विकास में बाधक हुई।

हिंदुस्तान में हम अपनी प्रांतीय भाषाओं का विकास करने के लिए बंधे हुए हैं और यह ठीक ही है कि हमारी महान प्रांतीय भाषाओं का विकास हो। साथ ही हमें एक अखिल भारतीय भाषा भी चाहिए। यह भाषा अंग्रेजी या कोई विदेशी जबान नहीं हो सकती, हालांकि मैं मानता हूं कि उसकी जगत-व्यापी स्थिति और हिंदुस्तान में उसके वर्तमान व्यापक ज्ञान के कारण अंग्रेजी का हमारी भावी प्रवृत्तियों में महत्वपूर्ण हाथ होगा। अखिल भारतीय भाषा कोई हो सकती है तो वह सिर्फ हिंदी या हिंदुस्तानी—कुछ भी कह लीजिए—ही हो सकती है।

ये कुछ बुनियादी बातें हैं जिन्हें इस अत्यंत महत्व के सवाल पर विचार करते समय हमें ध्यान में रखना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि इसका राजनैतिक दृष्टि से, या क्षणिक आवेग, या पूर्वाग्रहों के आधार पर जल्दी में किया हुआ फैसला हानि-कारक साबित हो सकता है। हमें भविष्य की इमारत खड़ी करनी है और गलत बुनियाद न सिर्फ भाषा के क्षेत्र में, बल्कि

संस्कृति और मानव-प्रगति के व्यापक क्षेत्र में भी हमारे विकास को कुंठित कर सकती है। इसलिए इस वक्त धीरे-धीरे चलना और हर तरह की कट्टरता से बचना कहीं ज्यादा अच्छा है। भाषा एक बहुत नाजुक साधन है, जिसके ऊंचे पहलुओं का विकास सूक्ष्म बुद्धिवाले लोग करते हैं, लेकिन उसे बल मिलता है आम जनता के इस्तेमाल से। वह फूल की तरह बढ़ती है। इसलिए बहुत ज्यादा बाहरी दबाव उसकी प्रगति को रोक देता है या तोड़-मरोड़कर उसे गलत दिशा में ले जाता है।

यह कोई बड़े महत्व की बात नहीं है कि हम इस भाषा को हिंदी कहें या हिंदुस्तानी, क्योंकि हकीकत यह कि हर शब्द के पीछे एक इतिहास होता है और वह किसी-न-किसी निश्चित चीज का द्योतक होता है, जिससे उसका अर्थ सीमित हो जाता है। जिस बात के बारे में हमारे दिमाग साफ रहने चाहिए, वह है भाषा का भीतरी सार और यह कि वह भाषा संसार को किस दृष्टि से देखती है—यानी वह सीमित करनेवाली, आत्म-निर्भर, अलग-अलग रहनेवाली और संकीर्ण है या उससे उलटी है? मेरे खयाल से हमारा लक्ष्य जान-बूझकर ऐसी जबान होनी चाहिए, जो इनसे विपरीत गुणोंवाली हो और जिसमें विकास की बड़ी शक्ति हो। शायद आज और किसी भाषा से अंग्रेजी में यह संग्राहकता, लचीलापन और विकास का गुण ज्यादा है। इसीलिए भाषा की हैसियत से उसका इतना बड़ा महत्व है। मैं चाहता हूं कि हमारी भाषा भी संसार के सामने इसी रूप में आये।

जिस ढंग से भाषा के सवाल पर आजकल हिंदुस्तान में वाद-विवाद होता है, उसपर मुझे बहुत दुःख है। इन दलीलों

के पीछे पांडित्य वहुत थोड़ा है और संस्कृति की समझ तो और भी कम है। उनमें भविष्य की कोई दृष्टि या कल्पना नहीं है। भाषा को एक प्रकार की विस्तृत पत्रकारी ही अधिक माना जाता है और राष्ट्रवाद का विपर्यास यह मांग करता है कि जहां-तक हो सके उसे संकीर्ण और सीमित वनाया जाय। उसके विस्तार की किसी भी कोशिश को इस किस्म के राष्ट्रवाद के खिलाफ गुनाह करार देकर उसकी निंदा की जाती है। अक्सर भाषा का सौंदर्य इसमें मान लिया जाता है कि वह अत्यंत आलंकारिक हो और उसमें लंवे और पेचीदा शव्द-प्रयोग हों। उस भाषा में शक्ति या गौरव वहुत कम दिखाई देता है और छाप यही पड़ती है कि उसमें ऊपरीपन और छिछलापन वहुत ज्यादा है।

जैसे काव्य कोरा तुकवंदियों और अनुप्रासों का समूह नहीं होता, वैसे ही भाषा भी खाली पेचीदा और कठिन शव्दों का प्रदर्शन नहीं है। अंग्रेजी के सुपरिचित और साधारण शव्दों का अनुवाद करने की हालत में जो कोशिशें हुई हैं, वे निहायत ऊटपटांग हैं। भाषा को गढ़ने में अगर यही वृत्ति रही तो निश्चय ही विचारों को प्रकट करने के एक सुंदर साधन की हत्या हुए विना न रहेगी।

अगर मुझसे पूछा जाय कि भारत के पास सवसे वड़ा खजाना कौन-सा है और उसकी सवसे वढ़िया विरासत क्या है तो मैं निःसंकोच उत्तर दूंगा कि वह संस्कृत भाषा, साहित्य और उसका भंडार है। यह एक शानदार विरासत है व जवतक वह कायम रहेगी और हमारी जनता के जीवन को प्रभावित करती रहेगी तवतक भारत की मूल प्रतिभा वनी रहेगी। यह एक

भूतकालीन निधि होने के अलावा एक सजीव परंपरा भी है, जो ऐसी प्राचीन भाषा के लिए इतनी मात्रा में होना आश्चर्य की बात है। मैं संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहन देना चाहूंगा और चाहूंगा कि हमारे पंडित इस भाषा के दबे हुए साहित्य की, जिसे लगभग भुला दिया गया है, खोज करें और उसे प्रकाश में लायें। यह आश्चर्य की बात है कि जहां हम राष्ट्रवाद की पराकाष्ठा पर पहुंचकर भाषा की इतनी ज्यादा बातें करते हैं, वहां उसकी भक्ति खाली जबानी है, या राजनैतिक उद्देश्यों के खातिर हम उसका दुरुपयोग करते हैं। जिस तरह एक भाषा की सेवा की जानी चाहिए, उस तरह उसकी सेवा बहुत कम की जाती है।

संस्कृत में देखिए या आधुनिक भारती भाषाओं में देखिए रचनात्मक कार्य बहुत ही कम होता है। हम अकसर 'न खायें, न खाने दें' की नीति बरतते हैं। खुद कुछ नहीं करते और साथ ही दूसरा कोई भाषा के विकास की कोशिश करे तो उसे पसंद भी नहीं करते। अंत में तो किसी भाषा का विकास उसकी अपनी योग्यता से होगा, न कि कानूनों और प्रस्तावों से। इसलिए किसी भाषा की सच्ची सेवा उसका मूल्य, उसकी व्यावहारिकता और उसके भीतरी गुण बढ़ाना है।

संस्कृत कितनी ही महान् हो और हम उसके अध्ययन को कितना ही प्रोत्साहन देना चाहें, जैसा हमें देना चाहिए, तो भी वह जीवित भाषा नहीं हो सकती। लेकिन जैसा वह अबतक रही है, उसी तरह आगे भी हमारी अधिकांश भाषाओं का आधार और भीतरी सार रहनी चाहिए। यह अनिवार्य है, लेकिन उसे जबर्दस्ती जनता पर लादना न तो अनिवार्य है और न वांछनीय और इसका नतीजा बुरा हो सकता है।

पिछली कुछ सदियों में हमारी कई प्रांतीय भाषाओं और खास तौर पर हिंदुस्तानी के विकास में फारसी का महत्वपूर्ण भाग रहा है और उसने किसी हद तक हमारे विचार करने के तरीकों पर भी असर डाला है। यह हमारी एक कमाई है और इससे उतनी मात्रा में हमारी पूंजी बढ़ी है। हमें यह याद रखना चाहिए कि कोई भाषा संस्कृत के इतनी नजदीक नहीं हैं, जितनी फारसी है और वैदिक संस्कृत व प्राचीन पहलवी जितनी एक-दूसरी के नजदीक हैं; उतनी वैदिक संस्कृत और उच्च कोट की साहित्यिक संस्कृत भी नहीं है।

इसलिए दोनों का एक-दूसरी के क्षेत्र में कुछ हद तक प्रवेश करना आसान है और इससे हमारी भाषा या जाति की प्रतिभा को कोई आघात नहीं पहुंच सकता।

कुछ भी हो, इतिहास की कुछ सदियों ने और उस बीच की जनता की जिंदगी ने आज हम जैसे हैं, वैसा हमें बना दिया है और मुझे यह बेहूदा और निश्चित रूप से बेवकूफीभरी बात मालूम होती है कि इतिहास के इस किये-कराये पर पानी फेरने की कोशिश की जाय। संस्कृति के खयाल से इस किये-कराये को मिटाने और पीछे जाने के ऐसे प्रयत्न का अर्थ होगा अपने हाथ आई हुई सांस्कृतिक संपत्ति से अपनेको वंचित करना। इसका मतलब अपने-आपको कंगाल बनाना होगा। हमारा लक्ष्य तो अपनी दौलत बढ़ाने और उस सांस्कृतिक पूंजी को बढ़ाने-वाली हर चीज को अंगीकार करने का होना चाहिए। इसलिए जिसे हमने पहले ही हजम कर लिया है, उसे बाहर निकालने की कोशिश करना हर तरह गलत है।

अगर ये बातें ध्यान में रखी जायं तो परिणाम यह निकलता

है कि हम जिस भाषा को अखिल भारतीय भाषा बनाना चाहते हैं, उसे लचीली और संग्राहक जरूर होना चाहिए तथा उसने युगों से जो सांस्कृतिक लक्षण प्राप्त कर लिये हैं, उन्हें कायम रखना चाहिए। यह भाषा असल में जनता की भाषा होनी चाहिए, न कि विद्वानों के एक छोटे-से गुट्ट की। वह गौरवपूर्ण और शक्तिशाली होनी चाहिए। उसे कृत्रिमता, छिछलेपन और आलंकारिकपन को जोर से दबाना चाहिए। उसका आधार तो लाजमी तौर पर संस्कृत ही होगी और उसकी बहुत-कुछ सामग्री भी उसीसे ली जायगी; लेकिन उसमें असंख्य शब्द, पद और विचार दूसरे जरियों से, खास तौर पर फारसी, अंग्रेजी तथा दूसरी विदेशी भाषाओं से भी लिये गये होंगे। रही बात पारिभाषिक शब्दों की, सो सबसे पहले तो हमें ऐसे हर शब्द को ले लेना चाहिए, जो आम लोगों के व्यवहार में चालू हो चुका है। नए शब्द गढ़ने में भी हमें लोगों के आम इस्तेमाल के शब्दों और लोगों की समझ के साथ यथासंभव मेल साधना होगा और पारिभाषिक शब्दों के बारे में हमें जहांतक संभव हो दुनिया की जो एक भाषा आज बन रही है, उससे अलग नहीं होना चाहिए।

यह अच्छा होगा कि हम बुनियादी शब्दों की एक ऐसी संख्या, कोई ३०००, जमा कर लें, जो आम लोगों द्वारा इस्तेमाल किये जानेवाले, सुपरिचित और साधारण शब्द समझे जा सकें। एक ही विचार के लिए अकसर दो पर्यायवाची शब्द भी हो सकते हैं, बशर्ते कि दोनों आम तौर पर काम में लिये जाते हों। यह वह बुनियादी शब्दकोश होना चाहिए, जिसे अखिल भारतीय भाषा के ज्ञान की इच्छा रखनेवाले हर शख्स को जानना चाहिए।

ऊपर बताये ढंग पर पारिभाषिक शब्दों की एक और सूची

तैयार होनी चाहिए। यहां मैं यह जरूर कहूंगा कि आज पारिभाषिक शब्दों के लिए जो नए शब्द इस्तेमाल हो रहे हैं, उनमें से बहुत-से इतने असाधारण रूप में बनावटी और सचमुच बेमानी हैं कि मुझे उनसे डर लगता है। इसका कारण यह है कि उनके पीछे कोई पृष्ठभूमि या इतिहास नहीं है।

अगर ये दोनों सूचियां तैयार कर ली जायं तो बाकी का काम भाषा के स्वाभाविक विकास पर छोड़ देना चाहिए। फिर कोई शुद्ध साहित्यिक हिंदी कही जानेवाली या शुद्ध साहित्यिक उर्दू कही जानेवाली शैली में लिखे या दोनों के बीच की शैली में लिखे, उसपर कोई पाबंदी न होनी चाहिए। जब शिक्षा का विस्तार होगा और पढ़नेवाली जनता की तादाद बढ़ेगी तो खुद उसीका लेखकों और वक्ताओं पर जबरदस्त असर पड़ेगा। मुझे कोई शक नहीं कि धीरे-धीरे एक बढ़िया और जोरदार भाषा बन जायगी और वह ऊपर के किसी दबाव के बिना बढ़ेगी।

यह आश्चर्य की बात है कि हम भाषा की चर्चा तो इतनी करते हैं, परंतु हमारे पास अच्छा शब्दकोश एक भी नहीं है। दुनिया की और किसी भी बड़ी भाषा को देखिए, उसमें कितने शब्दकोश, विश्वकोश और उसी तरह के दूसरे ग्रंथ हैं। भाषा की हमारी कसौटी कुछ ऐसी हो गई है कि अदालतों के कमरों में या स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों में बरती जानेवाली ही भाषा है। हमारे शब्दकोश पाठशालाओं के लड़कों के काम के होते हैं। इसलिए जल्दी-से-जल्दी करने का एक काम यह है कि संस्कृत और हमारी आधुनिक भाषाओं के विद्वत्तापूर्ण और व्यापक शब्दकोश तैयार करने में सारी शक्ति लगाई जाय।

जैसा मैं ऊपर कह चुका हूं, भाषा के नाम का इतना महत्व

नहीं है, जितना उसकी भीतरी सामग्री का। अखिल भारतीय भाषा की भीतरी सामग्री के बारे में मैंने ऊपर जो जिक्र किया है, उसे देखते हुए और जो शब्द आज इस्तेमाल हो रहे हैं, उन्हें उसी तरह काम में लेते हुए हिंदुस्तानी शब्द ही मेरी पसंद की सामग्रीवाली भाषा के अधिक-से-अधिक नजदीक है।

रही बात लिपि की, सो स्पष्ट है कि नागरी ही प्रमुख लिपि होगी। लेकिन यहां भी चूंकि मेरे विचार से एकांगी बनना सांस्कृतिक और राजनैतिक दोनों दृष्टियों से गलत है, इसलिए मेरा खयाल है कि उर्दू लिपि को मान्यता दी जानी चाहिए; और जहां मांग हो, वहां उसे सिखाया जाना चाहिए। हम सभी लोगों से ये दोनों लिपियां सीखने को नहीं कह सकते। यह बहुत भारी बोझ हो जायगा। लेकिन उर्दू लिपि को खास तौर पर दस्तावेज और दूसरे कागजात पेश करने और जहां काफी संख्या चाहती हो वहां स्कूलों में पढ़ाने के लिए मंजूर करना चाहिए।

यह बात हमारी साधारण भाषा-संबंधी नीति से मेल खाती है। वह नीति कांग्रेस और विधान-सभा दोनों में यों घोषित हो चुकी है कि हर बच्चे को प्रारंभिक शिक्षा उसकी मातृभाषा में दी जानी चाहिए, बशर्ते कि किसी खास जगह पर इसे व्यावहारिक बनाने के लिए काफी तादाद में छात्र हों। इस प्रकार बंबई या कलकत्ता या दिल्ली में तामिलभाषी बच्चों की काफी तादाद हो तो उन्हें तामिल में अपनी प्रारंभिक शिक्षा पाने का मौका मिलना चाहिए। अगर हिंदुस्तान के किसी हिस्से में ऐसे बच्चों की काफी संख्या है, जिनकी घर की जबान उर्दू है तो उन्हें प्रांत की भाषा के अलावा उर्दू-लिपि सिखाना चाहिए। यह सिद्धांत मान लिया गया है और इसपर जितना जल्दी अमल हो सके

उतना अच्छा है। आजकल वहुत-सी कठिनाइयां पैदा होती हैं, खास तौर पर उन इलाकों में जहां दो प्रांत मिलते हैं। इस सरहद के दोनों तरफ दो भाषाएं वोलनेवाला प्रदेश होता है। दूसरी किसी जगह के वनिस्वत यहां यह ज्यादा जरूरी है कि प्रारंभिक शिक्षा वच्चों को मातृभाषा में दी जाय।

मेरे खयाल से हमारे लिए किसी व्यापक पैमाने पर रोमन लिपि को अपनाना संभव नहीं है, लेकिन यह याद रखना चाहिए कि फौज में रोमन लिपि वड़ी सफलतापूर्वक इस्तेमाल की गई है। फौज में रोमन लिपि सिखाना वड़ा आसान पाया गया है और वह एक प्रकार की एकता पैदा करनेवाली शक्ति सावित हुई है। इसलिए रोमन लिपि की संभावनाओं की खोज करना और जहां संभव व वांछनीय हो, वहां उसे इस्तेमाल करना अच्छा होगा।

इस लेख के शुरू में मैंने कहा है कि मैं एक लेखक की हैसियत से यह लिख रहा हूं। यहां दो शव्द लेखकों के लिए, खास तौर पर हिंदी और उर्दू के लेखकों के लिए, कह दूं। मुझे यह देख कर वड़ा दुःख हुआ है कि हमारे वढ़िया-से-वढ़िया और होनहार लेखकों को प्रकाशकों के हाथों कैसी-कैसी मुसीवतें उठानी पड़ी हैं और किस तरह इन लोगों ने उनका शोषण किया है। जहां पत्रकार खुशहाल हैं, वहां सच्ची प्रतिभावाले लेखक के लिए तरक्की का वहुत कम मौका होता है।

मुझे ऐसी मिसालें मालूम हैं कि प्रकाशकों ने हिंदी की कितावों का कानूनी अधिकार इसलिए कौड़ियों में खरीद लिया कि गरीव लेखक भूखों मर रहा था और उसके सामने दूसरा कोई उपाय नहीं था। उन प्रकाशकों ने इन पुस्तकों से काफी

रुपया कमा लिया तो भी लेखक भूखों ही मरता रहा। मेरे खयाल से यह बहुत बड़ी बदनामी और सार्वजनिक कलंक की बात है और मैं ऐसी पुस्तकों के प्रकाशकों से अपील करूंगा कि वे लेखकों से ऐसा बेजा फायदा न उठायें।

प्रकाशक तभी फले-फूलेंगे, जब लेखक खुशहाल होंगे। प्रकाशकों के दृष्टिकोण से भी लेखक को भूखों मरने देना या उसे कोई योग्य काम करने से रोकना मूर्खताभरी नीति है। लेकिन राष्ट्रीय हित के खयाल से यह सवाल और भी अहम है और यह देखना राष्ट्रका काम है कि हमारे प्रतिभाशाली लेखकों को अच्छा काम करने का मौका मिले।

फरवरी, १९४९

: १९ :

स्नातिकाएं क्या करें ?

बहुत वर्ष पहले मुझे महिला-विद्यापीठ के हाल के शिला-रोपण का सौभाग्य मिला था। इन हाल ही के बरसों में इतनी बातें हो गई हैं कि समय का मुझे ठीक-ठीक अंदाज नहीं रहा और थोड़े साल भी बहुत ज्यादा लगते हैं। तब से बराबर मैं राज-नैतिक बातों में और सीधी लड़ाई में फंसा रहा हूं और हिंदुस्तान की आजादी की लड़ाई मेरे दिमाग पर चढ़ी रही है। महिला-विद्यापीठ से मेरा संबंध नहीं रह सका। पिछले चार महीनों में, जिनमें मैं जेल की दीवारों के बाहर की विस्तृत दुनिया में रहा हूं मेरे लिए बहुत-से बुलावे आये हैं और बहुत-सी सार्वजनिक कार्र-वाइयों में हिस्सा लेने के निमंत्रण मिले हैं। इन बुलावों की ओर मैंने ध्यान नहीं दिया और सार्वजनिक कार्रवाइयों से भी दूर रहा

हूं; क्योंकि मेरे कान तो बस एक ही बुलावे के लिए खुले थे और उसी एक उद्देश्य में मेरी सारी शक्ति लगी थी। वह बुलावा था हमारी दुखी और बहुत समय से कुचली जाने वाली मातृ-भूमि—भारत—का और खास तौर से हमारी दीन-शोषित जनता का और वह उद्देश्य था हिंदुस्तानियों की मुकम्मिल आजादी।

इसलिए इस अहम मसले से हटकर दूसरी और मामूली बातों की ओर जाने से मैंने इंकार कर दिया था। उन बातों में से कुछ अपने सीमित क्षेत्र में महत्व रखती थीं; लेकिन जब श्री संगमलाल अग्रवाल मेरे पास आये और जोर दिया कि मैं महिला विद्यापीठ का दीक्षांत-भाषण दूं ही तो उनकी अपील का विरोध करना मुझे मुश्किल जान पड़ा; क्योंकि उस अपील के पीछे हिंदुस्तान की लड़कियां अपनी जिंदगी की दहलीज पर चिर-काल के बंधन से स्वतंत्र होने की कोशिश करती और विवशता के साथ भविष्य को ताकती दिखाई दीं, यद्यपि जवानी के उत्साह से उनकी आंखों में आशा थी।

इसलिए खास हालत में और विवशता के साथ मैं राजी हुआ। मुझे आशा नहीं थी कि उससे भी जरूरी बुलावा और कहीं से नहीं आजायगा, और अब मैं देखता हूं कि वह जरूरी बुलावा बेहद पीड़ित बंगाल के सूबे से आ गया है। वहां जाना मेरे लिए जरूरी है और यह भी मुमकिन है कि महिला विद्यापीठ के दीक्षांत-समारोह के वक्त पर न लौट सकूं। इसके लिए मुझे दुःख है और मैं यही कर सकता हूं कि उसके लिए संदेश छोड़ जाऊं।

अगर हमारे राष्ट्र को ऊंचा उठना है तो वह कैसे उठ सकता है जबतक कि आधा राष्ट्र—हमारा महिला-समाज—पिछड़ा

रहता है, अज्ञानी और कुपढ़ रहता है ? हमारे बच्चे किस प्रकार हिंदुस्तान के संयत और प्रवीण नागरिक हो सकते हैं अगर उनकी माताएं खुद संयत और प्रवीण नहीं हैं ? हमारा इतिहास हमें बहुत-सी चतुर और ऐसी औरतों के हवाले देता है जो सच्ची थीं और मरते दम तक बहादुर रहीं। उनके उदाहरणों का हमारे लिए मूल्य है, उनसे हमें प्रेरणा मिलती है। फिर भी हम जानते हैं कि हिंदुस्तान में तथा दूसरी जगहों में औरतों की हालत दीन है। हमारी सभ्यता, हमारे रीति-रिवाज, हमारे कानून सब आदमी ने बनाये हैं और आदमी ने अपनेको ऊंची हालत में रखने का और स्त्रियों के साथ बर्तनों और खिलौनों-जैसा बर्ताव करने और अपने फायदे और मनोरंजन के लिए उनका शोषण करने का पूरा ध्यान रखा है। इस लगातार बोझ के नीचे दबी रहकर औरतें अपनी शक्ति पूरी तरह से नहीं बढ़ा पाईं और तब आदमी उन्हें पिछड़ी हुई होने का दोष देता है।

धीरे-धीरे कुछ पश्चिमी देशों में औरतों को आजादी मिल गई है; लेकिन हिंदुस्तान में हम अब भी पिछड़े हुए हैं, हालांकि उन्नति की भावना यहां भी पैदा हो गई है। यहांपर बहुत-सी सामाजिक बुराइयां हैं। जिनसे हमें लड़ना है और बहुत-से पुराने रीति-रिवाज जो हमें बांधे हुए हैं और जो हमें अवनति की ओर ले जाते हैं, उन्हें तोड़ना है। पुरुष और स्त्रियां, पौधों और फूलों की तरह आजादी की धूप और ताजी हवा में ही बढ़ सकती हैं। विदेशी शासन की अंधेरी छाया और गला घोंटने-वाले वायुमंडल में तो वे अपनी शक्ति क्षीण करती हैं।

इसलिए इसके सामने बड़ी समस्या यह है कि किस तरह हिंदुस्तान को आजाद करें और हिंदुस्तानी जनता पर लदे हुए

बोझ को कैसे दूर करें ? लेकिन हिंदुस्तान की औरतों का तो और काम है, वह यह कि वे आदमी के बनाए रीति-रिवाजों और कानूनों के जुल्म से अपनेको मुक्त करें। इस दूसरी लड़ाई को उन्हें खुद ही लड़ना होगा; क्योंकि आदमी से उन्हें मदद मिलने की संभावना नहीं है।

पदवीदान के अवसर पर मौजूदा बहुत-सी लड़कियां और स्त्रियां अपनी पढ़ाई खत्म कर चुकी होंगी, डिगरी ले चुकी होंगी और एक बड़े क्षेत्र में काम करने के लिए अपनेको तैयार कर चुकी होंगी। इस विस्तृत दुनिया के लिए वे किन आदर्शों को लेकर जायंगी और कौन-सी अंदरूनी भावना उन्हें स्वरूप देगी और उनके कामों की देख-भाल करेगी ? मुझे डर है, उनमें से बहुत-सी तो रोजमर्रा के रूखे घरेलू कामों में फंस जायंगी और कभी-कभी ही आदर्शों या दूसरे दायित्वों की बात सोचेंगी। बहुत-सी सिर्फ रोटी कमाने की बात सोचेंगी। इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों चीजें भी जरूरी हैं; लेकिन अगर महिला-विद्यापीठ ने सिर्फ यही अपने विद्यार्थियों को सिखाया है तो उसने अपने उद्देश्य को पूरा नहीं किया। अगर किसी विद्यालय का औचित्य है तो वह यह कि वह सचाई, आजादी और न्याय के पक्ष में शूरवीरों को तैयार करे और दुनिया में भेजे। वे शूरवीर दमन और बुराइयों के विरुद्ध निर्भय युद्ध करें। मुझे उम्मीद है कि आपमें से कुछ ऐसी हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो अंधेरी और बुरी घाटियों में पड़ी रहने की बनिस्बत पहाड़ पर चढ़ना और खतरों का मुकाबला करना पसंद करेंगी।

लेकिन हमारे विद्यालय पहाड़ पर चढ़ने में प्रोत्साहन नहीं देते। वे तो चाहते हैं कि नीचे के देश और घाटी सुरक्षित रहें।

वे मौलिकता और आजादी को प्रोत्साहन नहीं देते और हमारे विदेशी शासकों के सच्चे बच्चों की भांति ऊपर से शासन और व्यवस्था का थोपा जाना उन्हें पसंद है। इसमें ताज्जुब ही क्या है, अगर उनके काम निराशा-जनक, बेकार और हमारी बदलती हुई दुनिया में ठीक नहीं बैठते हैं।

हमारे विद्यालयों की बहुतों ने आलोचना की है। उनमें से बहुत-सी आलोचनाएं ठीक भी हैं। वास्तव में मुश्किल से किसीने हिंदुस्तान के विश्वविद्यालयों की तारीफ की है। लेकिन आलोचकों ने भी विद्यालय की शिक्षा को उच्चवर्गीय साधन माना है। उसका जनता से कोई संबंध नहीं है। शिक्षा की जड़ें धरती में होकर नीचे जनता तक पहुंचनी चाहिए, अगर शिक्षा को वास्तविक और राष्ट्रीय होना है। हमारी विदेशी सरकार और पुरानी दुनिया के रीति-रिवाज के कारण यह आज संभव नहीं है; लेकिन आपमें से जो विद्यापीठ से निकलकर दूसरों की शिक्षा में मदद देंगी, उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए और तब्दीली के लिए कोशिश करनी चाहिए।

कभी-कभी कहा जाता है, और मेरा विश्वास है कि विद्यापीठ खुद इस बात पर जोर देता है, कि स्त्रियों की शिक्षा आदमियों की शिक्षा से जुदा होनी चाहिए। स्त्रियों को घरेलू कामों के लिए और खूब प्रचलित शादी के पेशे के लिए तैयार किया जाना चाहिए। मैं स्त्री-शिक्षा के इस सीमित और एक-पक्षीय विचार से सहमत नहीं हो सकूंगा। मेरा विश्वास है कि स्त्रियों को मानवीय कामों के प्रत्येक विभाग में सर्वोत्कृष्ट शिक्षा मिलनी चाहिए और उन्हें तैयार किया जाना चाहिए जिससे तमाम वे पेशों में और क्षेत्रों में सक्रिय भाग ले सकें। खास तौर से शादी

को पेशा समझने और स्त्री के लिए उसे एक-मात्र आर्थिक सहारा मानने की आदत को दूर करना होगा। तभी स्त्री को आजादी मिल सकती है। आजादी राजनैतिक की वनिस्वत आर्थिक हालतों पर निर्भर होती है। अगर स्त्री आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं है और अपनी आजीविका स्वयं पैदा नहीं करती तो उसे अपने पति या और किसीपर निर्भर रहना होगा और दूसरों पर निर्भर रहनेवाले कभी आजाद नहीं होते। स्त्री और पुरुष का संबंध विल्कुल आजादी का होना चाहिए। एक-दूसरे पर निर्भर होने का नहीं।

विद्यापीठ की स्नातिकाओं, वाहर जाकर आपका क्या कर्त्तव्य होगा ? क्या आप सव वातों को जैसी वे हैं, चाहे जितनी वुरी वे हों, स्वीकार कर लेंगी ? क्या अच्छी वातों के प्रति हार्दिक और वेकार सहानुभूति दिखाकर ही संतुष्ट हो जायंगी और कुछ करेंगी नहीं ? क्या अपनी शिक्षा का औचित्य नहीं दिखायंगी और वुराइयां, जो आपको घेरे हुए हैं, उनका विरोध करके अपनी शक्ति आप सावित नहीं करेंगी ? क्या आप पर्दे के, जो हैवानी युग का एक दोषपूर्ण अवशेष है और जो हमारी वहुत-सी वहनों के दिलो-दिमाग को जकड़े हुए है, टुकड़े-टुकड़े नहीं कर डालेंगी और उन टुकड़ों को नहीं जला देंगी ? अस्पृश्यता और जाति से, जो मानवता का पतन करती हैं और जो एक वर्ग को दूसरे वर्ग का शोपण करने में मदद देती हैं, क्या आप नहीं लड़ेंगी और इस तरह मुल्क में वरावरी पैदा करने में मदद नहीं देंगी ? हमारे शादी के वहुत-से कानून हैं और प्राचीन रीति-रिवाज हैं, जो हमें पीछे रोके हुए हैं और खास तौर से हमारी स्त्रियों को कुचलते हैं। क्या आप उनसे मोरचा नहीं लेंगी और उन्हें मौजूदा हालतों के साथ

नहीं लायंगी ? क्या आप खुली हवा में खेल-कूद और व्यायाम और रहन-सहन से स्त्रियों के शरीर को पुष्ट करने के लिए, जिससे हिंदुस्तान में मजबूत, तंदुरुस्त और सुंदर स्त्रियां और खुश बच्चे हों, आप शक्ति और दृढ़ता के साथ नहीं लड़ेंगी ? और सबसे ऊपर, क्या आप राष्ट्रीय और सामाजिक स्वतंत्रता की लड़ाई में, जो आज हमारे मुल्क में हलचल मचाये हुए है, एक बहादुराना हिस्सा नहीं लेंगी ?

ये बहुत-से सवाल मैंने आपसे किये हैं, लेकिन उनके जवाब उन हजारों बहादुर लड़कियों और स्त्रियों से मिल गये हैं, जिन्होंने पिछले चार सालों में हमारी आजादी की जंग में खास हिस्सा लिया है। सार्वजनिक काम करने की आदत न होने पर भी घर-बार का सहारा छोड़कर हिंदुस्तान की आजादी की लड़ाई में अपने भाइयों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर खड़ी हुई उन बहनों को देखकर कौन नहीं कांप उठा ? बहुत-से आदमियों को, जो अपनेको आदमी कहते थे, उन्होंने लज्जा से भर दिया और दुनिया को घोषित कर दिया कि हिंदुस्तान की औरतें भी अपनी लंबी नींद से उठ बैठी हैं और अब उनके अधिकारों से इंकार नहीं किया जा सकता।

हिंदुस्तान की औरतों ने मेरे सवालों के जवाब दे दिए हैं और इसलिए, महिला-विद्यापीठ की लड़कियों और स्त्रियों, मैं आपका अभिनंदन करता हूं और आपके हाथ में यह जिम्मेदारी सौंपता हूं कि आप आजादी की मशाल को प्रज्वलित रखें, जब-तक कि उसकी लपटें हमारे इस प्राचीन और प्रिय देश में सब जगह न फैल जावें।

: २० :

सामाजिक हित

दर असल सामाजिक भलाई है क्या ? मैं तो इसे समाज की खुशहाली ही समझता हूं। यदि ऐसा है तो इसमें वे सभी चीजें आगईं जो एक व्यक्ति सोच सकता है—आध्यात्मिक, सांस्कृतिक राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक। इस तरह यह प्रश्न मानव-कार्यप्रणाली और मानव-संबंध के सारे क्षेत्र को ढंक लेता है। फिर भी यह व्यापक अर्थ कभी इसके साथ लगाया नहीं जाता और हम इन शब्दों को बहुत ही अधिक सीमित, अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता या कार्यकर्त्री अधिकतर अपने को ऐसे कार्यक्षेत्र में कार्य करते हुए समझते हैं, जो राजनैतिक कार्य और आर्थिक सिद्धांत से बिल्कुल भिन्न है। वह पीड़ित मानवता को राहत पहुंचाने की चेष्टा करेंगे, रोग और गंदगी के खिलाफ जिहाद करेंगे, बेकारी और वेश्यावृत्ति को मिटाने की कोशिश करेंगे। वर्तमान अनीति में कमी कराने के लिए वे न्याय में भी परिवर्तन कराने का प्रयत्न करेंगे, पर वे समस्या के मूल तक कभी न जायंगे, क्योंकि वर्तमान समाज के स्वरूप को जैसे-का-तैसा स्वीकार कर वे उसके महान अन्यायों को हलका करने में प्रयत्नशील रहते हैं।

हमें उस महिला पर गौर करने की जरूरत नहीं, जो यदा-कदा गंदी बस्तियों में जाकर दान-पुन्य आदि करके अपनी अंत-रात्मा को हलका करना चाहती है। समस्या पर इस तरह गौर करनेवाले जितने भी कम मिलें उतना ही अच्छा है, पर ऊपर जिस संकुचित रास्ते का वर्णन किया जा चुका है, उसी तरह

अपने सहयोगियों की सेवा में लगे हुए आदमियों की संख्या काफी है। वे काफी अच्छा काम करते हैं और उससे वे दूसरों को चाहे विशेष लाभ पहुंचाएं या न पहुंचाएं, स्वयं वे अनुशासन में दक्ष हो जाते हैं।

पर मुझे यह मालूम होता है कि इस अच्छे काम का ज्यादा हिस्सा बरबाद हो जाता है, क्योंकि यह तो समस्या की सतह को ही स्पर्श करता है। सामाजिक कुरीतियों का एक इतिहास और एक पृष्ठ-भूमि है। उसकी जड़ हमारे अतीत में है और हम जिस आर्थिक ढांचे में रहते हैं उससे उसका प्रगाढ़ संबंध है। उनमें से कई तो उसी आर्थिक प्रणाली के स्पष्ट परिणाम हैं और अन्य कई धार्मिक कट्टरता और हानिप्रद रीति-रस्मों से पैदा हुए हैं। अतः सामाजिक भलाई की समस्या पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने में हम अनिवार्यतः बुराइयों की जड़ों में पहुंचकर उनका सबब जानने की कोशिश करेंगे। हममें सत्य के गहरे कूप में देख सकने और साफ-साफ कह सकने का साहस होना चाहिए। अगर हम धर्म, राजनीति और अर्थ-शास्त्र को नजरअंदाज करें तो हम सतह पर ही रहेंगे और हमें न तो आदर ही हासिल होगा और न उसका कोई परिणाम ही हो सकेगा।

लगभग दो वर्ष से राष्ट्रीय पुनर्निर्माण समिति से मेरा संबंध रहा है और मेरे अंदर यह विश्वास पैदा होता गया है कि किसी भी समस्या को अलग करके उसका हल निकाल सकना संभव नहीं है। सभी समस्याएं साथ संबद्ध हैं और वे ज्यादातर आर्थिक ढांचे पर आश्रित हैं। सीमित अर्थ में यही बात सामा-जिक समस्याओं पर भी लागू होती है। हाल ही में निर्माण-

समिति ने अपनी उप-समिति की उस रिपोर्ट पर विचार किया था, जिसमें राष्ट्र-निर्माण के कार्य में महिलाओं के स्थान के बारे में चर्चा की गई थी। इस उप-समिति ने सामाजिक समस्याओं पर अच्छी तरह गौर किया था। अपने कार्य के दौरान में उसे बराबर राजनैतिक, आर्थिक या सामजिक पहलुओं का सामना करना पड़ता था।

यह कह सकना सरल नहीं है कि रक्षित धार्मिक या रक्षित आर्थिक स्वार्थों में किसपर गौर करना अधिक मुश्किल है। ये दोनों ही स्वार्थ-स्थिति को ज्यों-का-त्यों रखने के पक्ष में हैं और परिवर्तन के विरोधी हैं। इस तरह एक सच्चे सुधारक का काम दरअसल वहुत जटिल है।

इसके पहले कि हम किसी विशेष सुधार का प्रारंभ करें, यह निहायत जरूरी है कि हम यह समझें कि हमारा उद्देश्य क्या है और हम किस प्रकार के समाज की स्थापना चाहते हैं। यह स्पष्ट है कि अगर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जा सके जिसमें सभी वालिगों को काम और सुरक्षा का आश्वासन हो, जिसमें युवकों के लिए शिक्षा का समुचित प्रवंध हो, जिसमें जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं का व्यापक वितरण हो और जिसमें आत्मिक विकास के लिए किसी अंश तक आजादी हो तो यह स्वयं हमारी कई समस्याओं को सुलझा देगी और उससे तत्काल वुराइयों की कमी हो जायगी और मानव-संवंधों में कहीं अधिक वेहतर सामंजस्य स्थापित हो जायगा।

इसलिए जरूरत इस वात की है कि इस समस्या पर सभी मोरचों द्वारा हमला किया जाय और संभव है कि तथाकथित

धार्मिक मोरचे पर सबसे बड़ी तकलीफ सामने आकर खड़ी हो। जहांतक धर्म का ताल्लुक है उसके स्पर्श करने की जरूरत नहीं, पर ऐसे अनेक नियम और उपनियम हैं, जिन्हें धार्मिक स्वीकृति मिली हुई है। उनपर जब किसी प्रकार की आंच आती दिखाई देगी तो धर्म के ठेकेदार बड़ा गंभीर विरोध करेंगे। विरासत, व्याह और तलाक को विभिन्न संप्रदायों के जाती कानून का अंग समझा जाता है और इसी व्यक्तिगत कानून को धर्म का अंग समझा जाता है। यह साफ है कि ऊपर से किसी प्रकार का परिवर्तन समाज पर लादा नहीं जा सकता। इसलिए तत्कालीन सरकार का यह फर्ज होगा कि वह जनमत को इस तरह शिक्षित करे कि वह आनेवाले परिवर्तनों को स्वीकार कर ले।

संदेह को दूर करने के लिए यह साफ तौर पर बतला दिया जाना चाहिए कि कोई भी परिवर्तन जनता के किसी तबके पर जबरन न लादा जायगा। इससे कठिनाइयां उत्पन्न होंगी और कानून के अमल करने में किसी प्रकार की एकरूपता की स्थापना न हो सकेगी, पर साथ ही दूसरा रास्ता यानी परिवर्तन को जबरन लाद देना तो और भी कई दुर्भावनाओं को पैदा कर देगा।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि सारे हिंदुस्तान के लिए एक नागरिक कानून-प्रणाली होनी चाहिए। सरकार को इसके लिए प्रचार जारी रखना चाहिए। बड़ी भारी जरूरत इस बात की है कि किसी भी धर्म के व्यक्तियों को बिना अपना धर्म त्याग किए हुए शादी करने की आज्ञा दी जाय। वर्तमान सिविल मैरिज कानून में यह सुधार होना चाहिए।

तलाक के कानून की हिंदुओं के लिए बड़ी सख्त जरूरत

है। हम चाहते हैं कि परिवर्तन ऐसे हों जो पुरुषों और स्त्रियों दोनों पर लागू हों। हम यह भी चाहते हैं कि सदियों से दोहरे बोझ के नीचे पिसनेवाली महिलाओं को इन परिवर्तनों से लाभ पहुंचे। हमें चाहिए कि स्त्री और पुरुष के बीच हम प्रजातंत्र के सिद्धांत को स्वीकार कर अपने नागरिक कानूनों और समाज में उचित सुधार करें।

: २१ :

विज्ञान और युग

विज्ञान और विज्ञान के शिक्षा-भवनों से इधर मैं बहुत दूर रहा हूं और किस्मत और परिस्थितियां मुझे गर्द और शोर से भरे हुए बाजारों में, खेतों और कारखानों में ले गई हैं। हां, मनुष्य मेहनत करते हैं, कष्ट सहन करते हैं और जिंदा रहते हैं। इधर उन विशाल आंदोलनों से भी मेरा संबंध रहा है, जिन्होंने हमारे इस देश को हिला दिया है। हालांकि मैं कोलाहल और आंदोलनों से घिरा हुआ रहा हूं, फिर भी विज्ञान के लिए मैं एक निपट अजनबी की तरह नहीं हूं। मैंने भी विज्ञान के मंदिर में पूजा की है और अपनेको उसके भक्तों में गिना है।

आज विज्ञान के प्रति कौन उदासीन हो सकता है? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमें विज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है। संसार के इस विशाल भवन की आधार-शिला विज्ञान ही है। मानव सभ्यता के दस हजार वर्ष लंबे इतिहास में, पहले-पहल १५० वर्ष पूर्व, विज्ञान ने क्रांतिकारी रूप धारण कर सहसा प्रवेश किया और इतिहास के यह १५० वर्ष सबसे अधिक क्रांतिपूर्ण और विस्फोटक साबित हुए हैं। विज्ञान के इस युग में रहने

वालों के लिए जीवन का वातावरण और गतिविधि से पहले के युगों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न हैं। लेकिन इस सत्य का पूरी तरह से अनुभव करने वाले बहुत कम हैं और वे आज की समस्याओं को भी उस बीते दिन की सहायता और तुलना से समझना चाहते हैं, जो मर चुका है और गुजर चुका है।

विज्ञान के द्वारा जीवन में विशाल परिवर्तन हुए हैं, यद्यपि उनमें सभी मानवजाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध नहीं हुए। किंतु उन परिवर्तनों में सबसे मुख्य और आशाप्रद परिवर्तन विज्ञान के प्रभाव से मनुष्य में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास है। यह सत्य है कि आज भी बहुतसे लोग मानसिक दृष्टि से उसी पहले अवैज्ञानिक युग में रहते हैं और वे लोग भी जो बड़े उत्साह के साथ विज्ञान का पक्ष समर्थन करते हैं, अपने विचारों और कामों में अवैज्ञानिक दृष्टिकोण का ही परिचय दे डालते हैं। वैज्ञानिक लोग भी, यद्यपि वे अपने विषय के विशेषज्ञ होते हैं, कभी-कभी उस विषय से बाहर वैज्ञानिक दृष्टि-कोण का प्रयोग करना भूल जाते हैं। फिर भी केवल इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही मनुष्य-जाति को कुछ आशा हो सकती है और उसके द्वारा ही संसार के क्लेशों का अंत हो सकता है। संसार में परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष चल रहे हैं। उनका विश्लेषण किया जाता है और उन्हें भिन्न नामों से पुकारा जाता है, लेकिन जो वास्तविक और प्रधान संघर्ष है वह वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक दृष्टिकोण का ही संघर्ष है।

विज्ञान के प्रारंभिक दिनों में धर्म और विज्ञान के पारस्परिक विरोध की बहुत चर्चा रही है। आज वह विरोध यथार्थ नहीं मालूम होता। आज विज्ञान का रूप अधिक व्यापक है,

उसने संपूर्ण विश्व को अपना कार्य-क्षेत्र बना लिया है और ठोस पदार्थ को सूक्ष्म रूप में परिवर्तित कर दिया है। लेकिन उस वक्त विज्ञान और धर्म का संघर्ष वास्तविक था, क्योंकि वहां धर्म के नाम से पुकारी जानेवाली शक्ति द्वारा स्थापित मानसिक निरंकुशता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ पली हुई मनुष्य की स्वतंत्र बुद्धि के बीच पारस्परिक संघर्ष था। ऐसी परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच समझौता मुमकिन नहीं, क्योंकि विज्ञान इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकता कि किसी भी शक्ति द्वारा, चाहे उसे कैसा भी रुचिकर नाम क्यों न दे दिया जाय, मस्तिष्क की खिड़कियों को बंद करने का प्रयत्न किया जाय। विज्ञान से यह नहीं हो सकता कि वह अंधविश्वास के के पक्ष में, या बिना तहकीक के किसी दूसरे के विश्वासों के पक्ष में, प्रोत्साहन दे।

विज्ञान को केवल आकाश की ओर ही न देखना चाहिए और न केवल उसीकों अपने नियंत्रण में लाने का प्रयत्न करना चाहिए, बल्कि नीचे नरक के गर्त में निःशंक भाव से देखने की भी उसमें क्षमता होनी चाहिए। इनमें से किसी भी क्षेत्र से दूर भागने की कोशिश करना वैज्ञानिक का कर्तव्य नहीं। सच्चा वैज्ञानिक तो वह है जो जीवन और कर्मफल से निर्लिप्त है और जो सत्य की खोज में, जहां भी उसकी जिज्ञासा ले जाय, वहांतक जाने की क्षमता रखता है। अपनेको किसी वस्तु से बांध लेना और फिर वहां से न हट सकना तो सत्य की खोज को तर्क कर देना है और इस गतिशील संसार में गतिहीन हो जाना है।

शायद सच्चे धर्म और विज्ञान के बीच कोई वास्तविक विरोध है भी नहीं, लेकिन यदि यह सत्य है तो धर्म को विज्ञान

का लिवास पहनना होगा और अपनी सब समस्याओं की ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना होगा। हममें से बहुतसे ऐसे हैं, जिन्हें जीवन के ऐहिक दर्शन से ही संतोष हो सकता है। हम उन सवालों में सिर खपायें भी क्यों, जो हमसे परे हैं, जबकि इस संसार में ही ऐसी समस्याओं की कमी नहीं, जिनका सुलझाया जाना अत्यावश्यक है ? और साथ ही उस ऐहिक दर्शन के पीछे केवल दुनिया की खुशहाली की इच्छा के अतिरिक्त कुछ अन्य ऊंचे सिद्धांत भी होते हैं। उस ऐहिक दृष्टिकोण में भी कुछ आध्यात्मिकता और नैतिकता होती है और जब हम इन बातों की ओर ध्यान देते हैं तो हम अपनेको उसी क्षेत्र में पाते हैं जो धर्म के नाम से पुकारा जाता है।

लेकिन विज्ञान ने तो उस क्षेत्र पर कई पहलुओं से आक्रमण किया है। विज्ञान ने उस लकीर को मिटा दिया है जो वस्तु-जगत से विचार-जगत तथा भौतिक से मानसिक को पृथक करती हुई समझी जाती थी। विज्ञान ने मनुष्य के भीतर ही नहीं झांका है, बल्कि उसके अर्ध-चेतन मन के रहस्यों को तथा उसे संचालित करने वाली छिपी शक्तियों को भी जान लेने का प्रयत्न किया है। विज्ञान ने, अंतिम सत्य क्या है, ऐसे विषय पर भी विचार करने का साहस किया है। वैज्ञानिक बतलाते हैं कि एक अणु की वास्तविकता, उसकी निहित शक्ति में है। इस प्रकार भौतिक संसार वास्तव में एक सक्रिय समूह बन गया है और प्रकृति उस क्रिया-प्रतिक्रिया के लिए रंगमंच के समान है। हर जगह गति है, परिवर्तन है। वस्तु की वास्तविकता केवल 'क्रिया' में ही है, जो इस क्षण है और दूसरे क्षण नहीं भी है। क्रिया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जब ठोस पदार्थ की यह

गति है तो फिर सूक्ष्म तत्वों की गति क्या है, कौन कहे ?

विज्ञान-संबंधी विचारों के इस आश्चर्यजनक विकास के प्रकाश में पुराने तर्क कितने सारहीन मालूम होते हैं। अब वह समय आगया है कि विज्ञान के विकास से अपने-आपको अभिज्ञ बनाकर हमें बीते युग के विवाद को छोड़ देना चाहिए। यह सत्य है कि विज्ञान के सिद्धांत भी परिवर्तन-शील हैं और विज्ञान में अटल सत्य या अंतिम सत्य-जैसी कोई चीज नहीं है; किंतु वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं होता। और हमें अपने विचारों और कामों में विश्व के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में, धर्म तथा सत्य को खोज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही काम लेना चाहिए। हमारा अस्तित्व चाहे साबुन के बबूले-जैसे विश्व पर एक धूलि-कण की भांति ही क्यों न हो, लेकिन हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उस धूलि-कण में मनुष्य की मानसिक और आत्मिक शक्तियां भी निहित हैं। युग-युगांतर का लंबा इतिहास उसी धूलि-कण के विकास की कथा है। उसने अपने-आपको इस पृथ्वी का स्वामी बना दिया है और पृथ्वी के गर्भ तथा आकाश के वज्र से शक्तिकर संचय किया है। उसने सृष्टि के रहस्यों को मापने का प्रयत्न किया है और अनियंत्रित प्रकृति पर काबू करके उससे लाभ उठाया है। लेकिन पृथ्वी और आकाश से भी अद्‌भुत मनुष्य का मन और आत्मा हैं जो नित्य नई शक्ति का संचय कर, अपनी विजय-लालसा के लिए नए-नए विश्व खोजते हैं।

यह है वैज्ञानिक का कर्तव्य। लेकिन हम जानते ही हैं कि सभी वैज्ञानिक वीरता और साहस के सांचे में ढले हुए नहीं होते और न वे प्लेटो की आदर्श व्यवस्था के उन दार्शनिक

सम्राटों की ही भांति होते हैं, जिनका जिक्र उसने उस बीते हुए युग में किया था। शाहीपन तो इन वैज्ञानिकों में नहीं ही रहता, लेकिन उनमें दार्शनिकता का भी अभाव होता है और उनकी दिनचर्या किसी संकीर्ण क्षेत्र और नियमित कार्यवाही तक ही सीमित रह जाती है। विशेषज्ञ तो उन्हें बनना ही पड़ता है, लेकिन जैसे-जैसे वे विशेषज्ञ बनते जाते हैं, विषय की संपूर्णता का ध्यान उनसे छूटता जाता है और वे वास्तविकता से संपर्क त्याग, पांडित्याभिमानी बन जाते हैं। भारतवर्ष में जिसे राजनैतिक व्यवस्था में दुर्भाग्यवश रहना पड़ा है, उसके कारण हमारे वैज्ञानिकों के विकास में और भी रुकावट पड़ी है और सामाजिक उन्नति के कार्य में उस बाधा के कारण वे अपना-अपना उचित हिस्सा नहीं ले सकते हैं और बहुत-से लोगों की भांति वे भी सशंकित रहे हैं कि तात्कालिक शासन को उनके किसी कार्य या विचार तक से असंतोष न हो, और इस प्रकार कहीं उनकी स्थिति डांवाडोल न होजाय। ऐसी अवस्था में विज्ञान की उन्नति नहीं हो सकती, वैज्ञानिक लोग फल-फूल नहीं सकते। विज्ञान के विकास के लिए स्वतंत्र वातावरण की आवश्यकता है। सामाजिक हित के खयाल से विज्ञान को असली रूप देने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण और युग की आत्मा के अनुरूप ही उद्देश्य भी होने चाहिए।

भय का जो भाव हमारे देश पर काबू किये हुए था, वह हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस के आंदोलनों और कामों की वजह से सौभाग्यवश अब बहुत कम होगया है। आज गरीब, भूखे और तबाह किसान की दृष्टि में भी साहस की झलक दिखलाई पड़ती है, उसकी कमर अब पहले की तरह झुकी हुई नहीं है। अब समय

आगया है जब हमारे सामने बहुत बड़े मसले हैं, जिनका तय होना जरूरी है। उन समस्याओं का निर्णय केवल राजनीतिज्ञों द्वारा न हो सकेगा; क्योंकि उनमें व्यापक बुद्धि या विशेष ज्ञान का अभाव हो सकता है। उन समस्याओं का फैसला केवल वैज्ञानिकों द्वारा भी नहीं हो सकता है जो प्रत्येक पहलू को देख सकते हैं। उन समस्याओं का हल राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों दोनों के ऐसे सहयोग द्वारा ही हो सकेगा जो किसी पूर्व-निश्चित सामाजिक उद्देश्य को अपना आधार माने।

उस सामाजिक उद्देश्य का होना जरूरी है, क्योंकि उसके बिना हमारे प्रयत्न व्यर्थ और तुच्छ होंगे और उन प्रयत्नों में पारस्परिक सहयोग का भी अभाव होगा। सोवियत रूस के संबंध में हम जानते ही हैं कि उचित उद्देश्य और पारस्परिक सहयोग के साथ प्रयत्न करने से एक पिछड़ा हुआ मुल्क भी ऐसा उन्नत औद्योगिक देश बन गया है, वहां का सामाजिक जीवन अब बराबर ऊंचा उठा रहा है। यदि हम भी तेजी से उन्नति करना चाहते हैं तो हमें भी कुछ ऐसे ही तरीकों का प्रयोग करना पड़ेगा।

हमारे देश में सबसे महत्वपूर्ण समस्या जमीन की समस्या है; लेकिन उससे बहुत निकट का संबंध रखनेवाली समस्या उद्योग-धंधों की भी है। उनके साथ-साथ समाज-सुधार की भी समस्याएं हैं। इन सब समस्याओं को साथ-ही-साथ हल करना होगा। उनके लिए एक संबद्ध कार्य-क्रम निर्धारित करना होगा। यह योजना बहुत विशाल है; किंतु इसका दायित्व अब कंधों पर संभालना ही होगा।

पिछले साल अगस्त में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के निर्माण के बाद कांग्रेस-कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव पास किया था, जिससे

वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों को दिलचस्पी होनी चाहिए। प्रस्ताव इस प्रकार है :

"कार्यसमिति मंत्रि-मंडलों से सिफारिश करती है कि वे विशेषज्ञों की एक कमेटी नियुक्त करें। वह कमेटी उन महत्व-पूर्ण समस्याओं पर विचार करेगी, जिनका राष्ट्रनिर्माण और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए हल होना अत्यंत आवश्यक है। उन समस्याओं को हल करने के लिए बड़े पैमाने पर पैमाइश और बहुत-से आंकड़ों का इकट्ठा किया जाना जरूरी होगा और राष्ट्र-हित को ध्यान में रखकर उसके उद्देश्य भी निश्चित करने होंगे। इनमें से बहुत-सी समस्याएं प्रांतीय पैमाने पर हल नहीं की जा सकतीं। साथ ही पड़ोसी सूबों के अनेक हित परस्पर संबंधित हैं। विनाशकारी बाढ़ों को रोकने के लिए, सिंचाई की समस्या तथा बाढ़ के कारण जमीन की स्थिति में अंतर आजाने की समस्याओं पर विचार करने के लिए, मलेरिया के आक्रमणों की संभावना को कम करने के लिए और पानी से बिजली निकालने की योजना को विस्तार देने के लिए नदियों की पूरी-पूरी पैमाइश होनी जरूरी है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए नदियों की घाटियों की पैमाइश और जांच करने की तथा सरकार की तरफ से बड़ी-बड़ी योजनाओं को चालू करने की जरूरत होगी। औद्योगिक उन्नति और उद्योग-धंधों के नियंत्रण के लिए भी प्रांतों के पारस्प-रिक सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। इसलिए कार्यसमिति की सलाह है कि शुरू में विशेषज्ञों की एक अंतर्प्रांतीय कमेटी की नियुक्त की जाय, जो इस बात को तय करे कि किन-किन सम-स्याओं पर और किस क्रम से विचार किया जाय।"

इस संबंध में कुछ कार्य तो हुआ भी है। कुछ कमेटियां भी

नियुक्त की गई हैं; लेकिन इस दिशा में और अधिक काम होना चाहिए। विशेषज्ञों को वहुत वड़े पैमाने पर वड़ी-वड़ी समस्याओं को हल करना चाहिए। सार्वजनिक शिक्षा के लिए अजायवघर और स्थायी प्रदर्शनियों की योजना होनी चाहिए। ऐसी योजनाएं किसानों के लिए खास तौर पर जिले-जिले में होनी चाहिए। मुझे किसानों की शिक्षा के लिए बनाए गये सोवियत रूस के अद्भुत अजायवघरों की याद आती है और मैं उनकी तुलना यहां की उन अजीबोगरीब नुमायशों से करने लगता हूं, जिनकी कभी-कभी योजना की जाती है। मुझे म्यूनिक के उस विशाल और अद्भुत अजायवघर की भी याद आती है और कभी-कभी मुझे यह हसरत होने लगती है कि क्या हिंदुस्तान में भी कभीऐसी चीजें होंगी।

ऐसे मामलों में नेतृत्व करना विज्ञान-परिषदों का काम है और इन विषयों पर सरकार को सलाह देना भी वैज्ञानिकों का ही काम है। सरकार को उनके साथ सहयोग करना चाहिए, उनकी सहायता करनी चाहिए और उनकी विशेष योग्यता से लाभ उठाना चाहिए। लेकिन विज्ञान-परिषदों को हर समय सरकार की ओर से ही प्रेरणा की प्रतीक्षा न करनी चाहिए। हमें इस वात की आदत-सी होगई है कि हर मामले में सरकार की ओर से काम की शुरूआत का इंतजार करते रहें। काम शुरू करना सरकार का काम जरूर है, लेकिन योजनाओं की खुद शुरूआत करना वैज्ञानिकों का भी कर्तव्य है। एक दूसरे का इंतजार करने के लिए हमारे पास वक्त नहीं है। हमें आगे वढ़ना चाहिए।

●